नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १५—अंक ४

संपादक

श्यामसुंदरदास

—:※:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

माघ संवत् १९९१]

[मूल्य प्रति संख्या २॥) रुपया

. & Development of the Bengali Language.

§ 517.

२५

जानेवाली किसी फारसी बोली के प्रभाव से (जिसमें 'दस्वश' के समान कोई शब्द रहा होगा, क्योंकि प्राचीन फारसी में यही शब्द मिलता है) भारतवर्ष में 'च्वश' शब्द का प्रचार हुआ होगा और फिर 'च्वश' के 'च्व' का 'छ' हो गया होगा[1]।

अशोक के शिलालेखों में छः के लिये 'छ' (रूपनाथ—"छ बचरे"), 'सा' (सहसराम—"स—वचले, स—पंन्ना"), 'श' (उत्तर-पश्चिम और कालसी) तथा 'सडु' (देहली, सिवलिक और मेरठ—"सडुवीसति") रूप पाए जाते हैं। अपभ्रंश में भी प्राकृत से आया हुआ 'छ' ही रूप पाया जाता है। इसी रूप से खड़ी बोली का 'छः' बना है। पूर्वी हिंदी, सिंधी तथा गुजराती में 'छ' ही मिलता है। खड़ी बोली का 'छः' उच्चारण में सिंधी के 'छह' तथा मराठी के 'सहा' के समान है। इस शब्द की उत्पत्ति प्राकृत के '*छस' या '*छह' से हुई जान पड़ती है।

सं० सप्त > प्रा० सत्त > अप० सत्त > ख० बो० सात।

सं० अष्ट > प्रा० अट्ठ > अप० अट्ठ > ख० बो० आठ।

सं० नव > प्रा० नअ, णअ [illegible] नव > ख० बो० नौ।

(१) "Could the typicall[illegible] —svas —> have been borrowed or blended with the Indian—ṣaṣ—in an old Indo-Aryan frontier dialect in the form—kṣaṣ—*kṣak—? × × × × And kṣak could, very well, be the source of—cha, chaa—, with the North-western or Western Mid. Indo-Aryan alteration of <— kṣ —> to <— ch —>."

S. K. Chatterji—Origin & Development of the Bengali Language. § 517.
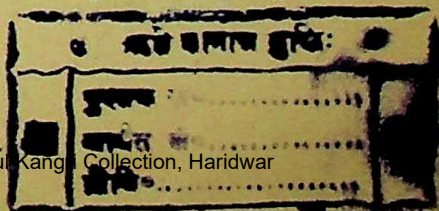
सं० दश > प्रा० दह, दस > अप० दस > ख० बो० दस।

संसार की अधिकांश भाषाओं में संख्याओं को व्यक्त करनेवाले अंक शून्य से लेकर नौ तक ही पाए जाते हैं; शेष और सब संख्याएँ इन्हीं अंकों की सहायता से लिखी जाती हैं, जैसे १६, ८७५ इत्यादि। पर संख्याओं का बोध कराने के लिये जो शब्द बोले जाते हैं उनके मूल रूप शून्य से लेकर नौ तक के शब्दों के अतिरिक्त कुछ और भी पाए जाते हैं। खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्द, खड़ी बोली के कुछ मूल-संख्यावाचक शब्दों के योग से नहीं बने हैं; वरन्, जैसा कि कुछ कुछ हम देख चुके हैं, संस्कृत के संख्यावाचक शब्दों के प्राकृत और अपभ्रंश से होकर आए हुए रूप हैं। इसलिये हमें संस्कृत के ही संख्यावाचक शब्दों में देखना चाहिए कि वे मूल शब्द कौन से हैं, जिनके आधार पर और सब शब्द बने हैं। संस्कृत के पूर्णांक संख्यावाचक शब्दों की सूची पर दृष्टि डालने से विदित हो जायगा कि संस्कृत के मूल पूर्णांकबोधक संख्यावाचक शब्द केवल निम्नलिखित ही हैं—

एक
द्वि, द्व
त्रि
चतुर्
पञ्चन्
षष्
सप्तन्
अष्टन्
नवन्
दशन्
विंशति

त्रिंशत्
चत्वारिंशत्
पञ्चाशत्
षष्टि
सप्तति
अशीति
नवति
शत
सहस्र
अयुत
लच्च, लच्चा

प्रयुत	शंकु
कोटि	जलधि
अर्बुद	अंत्य
अब्ज	मध्य
खर्व	परार्ध
महापद्म	

शेष सब यौगिक शब्द हैं जो इन्हीं शब्दों की सहायता से बने हैं; जैसे—'एकादशन्' (=एक+दशन्); 'द्वादशन्' (=द्व+दशन्), 'एकविंशति' (=एक+विंशति), 'चतुःपञ्चाशदुत्तरं सप्तशतम्' (=चतुर्+पञ्चाशत्+सप्त+शत) इत्यादि। संस्कृत के शब्द प्राकृत और अपभ्रंश से होते हुए किस प्रकार खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्दों के रूप में परिणत हो गए हैं यही आगे दिखाया जायगा।

सं० एकादश > प्रा० एगारह, एकारस, एआरह > अप० एआरह। खड़ी बोली में वर्ण-विपर्यय होकर अपभ्रंश के 'एगारह' से 'गएआरह' और फिर उससे 'ग्यारह' या 'ग्यारा' हो गया है अथवा 'एगारह' के आदि के 'ए' और 'ग्' का लोप होकर 'ग्' और 'अ' के बीच में 'य' का आगम हो जाने से 'ग्यारह' बन गया है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पूर्वी हिंदी में 'इगारह', 'एग्यारह' और 'इग्यारह' अब भी बराबर प्रयुक्त होते हैं जिनके आदि के स्वर का नाश नहीं हुआ है। इस संख्यावाचक शब्द में हम यह भी देखते हैं कि संस्कृत के 'श' के स्थान में हिंदी में 'ह' हो गया है। संख्यावाचक शब्दों के द्वितीय और अष्टम दशकों (अर्थात् दस से बीस तक और सत्तर से अस्सी तक) में संस्कृत के 'श' और 'स' के स्थान में गुजराती, खड़ी बोली, व्रजभाषा, अवधी, बिहारी तथा बँगला भाषाओं में नियमतः 'ह' पाया जाता है; पर

अन्य दशकों में सर्वत्र नहीं पाया जाता। उदाहरणार्थ—संस्कृत के 'द्वादश', 'द्वासप्तति' और 'पञ्चाशत्' को लीजिए। खड़ी बोली में इन शब्दों के क्रमशः 'बारह', 'बहत्तर' और 'पचास' रूप पाए जाते हैं। यहाँ हम देखते हैं कि 'द्वादश' और 'द्वासप्तति' के 'श' और 'स' के स्थान में हिंदी में 'ह' हो गया है, पर 'पञ्चाशत्' के 'श' का 'स' ही रह गया है।

सं० द्वादश > प्रा० बारह > अप० बारह > खड़ी बोली बारह, बारा। पाली में 'बारस' रूप मिलता है जिसमें संस्कृत के 'द्वा' के स्थान में 'बा' पाया जाता है। तत्कालीन ध्वनि-परिवर्तन के नियमों के अनुसार वैदिक संस्कृत के 'द्व' के स्थान में पाली में 'ब' हो जाना अस्वाभाविक प्रतीत होता है[1]। संभवतः यह किसी बाहरी भाषा का प्रभाव होगा। 'बारस' का प्रयोग मागधी तथा अर्धमागधी प्राकृतों में भी होता था जो पाली से ही उनमें आ गया होगा। प्राचीनकालीन 'द्वादश' से निकले हुए 'द्वादश' और 'दुवा-लस' शब्द भी क्रमशः पाली और मागधी प्राकृत में प्रयुक्त होते थे।

सं० त्रयोदश > प्रा० तेरह > अप० तेरह > ख० बो० तेरह।

सं० चतुर्दश > प्रा० चउदह > अप० चउहह > ख० बो० चौदह।

सं० पञ्चदश > प्रा० पण्णरहो, पण्णरह > अप० पण्णरह > ख० बो० पंद्रह। पूर्वी हिंदी में 'ण'-युक्त (जो अब 'न' के रूप में परिणत हो गया है) रूप 'पनरह' वर्तमान है। खड़ी बोली से मिलते-जुलते गुजराती, सिंधी तथा पंजाबी के क्रमशः 'पंदर', 'पंदरहँ' (या पंध्रँ) तथा 'पदराँ' रूप पाए जाते हैं।

---

(१) "Pali form for twelve is 'bārasa', with—b—for Old Indo-Aryan—dv—which does not seem to be a proper Midland treatment of this group of consonants."

S. K. Chatterji—O. and D. of the Bengali Language. §. 511.

सं० षोडश > प्रा० सोलह, अर्धमागधी प्रा० सोलस; अप० सोलह > खड़ी बोली सोलह।

सं० सप्तदश > प्रा० सत्तरह > अप० सत्तरह > ख० बो० सत्रह। पूर्वी हिंदी में 'सतरह' रूप मिलता है।

सं० अष्टादश > प्रा० अट्ठारह > अप० अट्ठारह > ख०बो०अट्ठारह।

हम देखते हैं कि चौदह और सोलह के अतिरिक्त, ग्यारह से अट्ठारह तक के संख्यावाचक शब्दों के 'द' का प्राकृत तथा अपभ्रंश में 'र' हो गया है। खड़ी बोली में भी वही परंपरा वर्तमान है। सं० 'चतुर्दश' में 'द' के पूर्व 'र' पहले से ही वर्तमान है जिसके कारण प्राकृत में 'द' के स्थान पर 'र' नहीं हो सका। सं० 'षोडश' के 'ड' के स्थान पर प्राकृत और अपभ्रंश में 'ल' पाया जाता है। खड़ी बोली में भी यही 'ल' वर्त्तमान है। पूर्वी हिंदी, मागधी तथा मैथिली में 'सोरह' पाया जाता है जिसमें संस्कृत के 'ड' के स्थान पर 'र' है। संभवत: इन भाषाओं में 'ग्यारह', 'बारह', 'तेरह' आदि के अनुकरण पर 'सोरह' रूप भी बन गया होगा।

उन्नीस, उंतीस, उंतालीस, उनचास, उनसठ, उनहत्तर तथा उन्नासी अन्य संख्यावाचक शब्दों से भिन्न दूसरे ही ढंग से बनाए गए हैं। इनके बादवाले शब्दों के पहले 'ऊन' (= कम) लगाकर इन शब्दों की रचना की गई है; जैसे—एक + ऊन + विंशति (= एक कम बीस) से 'एकोनविंशति'। फिर आदि के 'एक' का लोप हो जाने से एक दूसरा रूप 'ऊनविंशति' बन गया। जैसा हम आगे देखेंगे, संस्कृत के इसी 'ऊनविंशति' से खड़ी बोली का 'उन्नीस' निकला है[1]। इस ढंग से बनाए हुए अन्य शब्दों का उल्लेख यथास्थान आगे किया जायगा।

---

(१) एगुणविंस संस्कृत के एकोनविंशति से सहज ही में बन जाता है।
—संपादक।

उन्नीस के लिये संस्कृत में 'ऊनविंशति', 'एकान्नविंशति,' 'एकोनविंशति' तथा 'नवदशन्' शब्दों का प्रयोग होता है। प्राकृत में 'ऊनविंशति' का 'ऊनवीसइ' और 'एकोनविंशति' का 'एकोनवीसइ' हो गया है। अर्धमागधी प्राकृत में 'अउणवीस' तथा 'एगूणवीस' (इ) रूप पाए जाते हैं। अपभ्रंश में 'णवरह', 'णवदह' तथा 'एगुणविंस' पाए जाते हैं। खड़ी बोली का उन्नीस प्राकृत के 'ऊनवीसइ' से आया है। राजस्थानी में अपभ्रंश के 'एगुणविंस' से निकला हुआ 'उगणीस' रूप पाया जाता है संभवत: जिसकी मूल-संस्कृत का 'अपगुण(-विंशति)' शब्द है[1]।

सं० विंशति > प्रा० वीसै, वीसइ > अप० बीस > ख० बो० बीस।

सं० 'एकविंशति' > प्रा० 'एक्कवीसा' > अप० 'एकवीस' > ख० बो० 'इक्कीस'। यहाँ हम देखते हैं कि संस्कृत के 'व' का हिंदी में लोप हो गया है। इस नियम का अधिकार

बीस से चालीस

चौबीस और छब्बीस को छोड़कर इक्कीस से अट्ठाइस तक के सब शब्दों पर पाया जाता है।

सं० 'द्वाविंशति' > प्रा० 'बावीसा', अर्धमागधी प्रा० 'बविस', 'बावीसा', 'बावीसं'; अप० 'बावीस', 'बवीस' > ख० बो० 'बाइस'। यहाँ हम देखते हैं कि संस्कृत के 'द्वा' का हिंदी में 'बा' या 'वा' रह गया है। बारह, बत्तीस, बयालीस, बावन, बासठ, बहत्तर, बयासी, तथा बानवे में भी इसी प्रकार का परिवर्तन देखा जाता है।

सं० त्रयोविंशति > प्रा० तेवीसा, अर्धमागधी प्रा० तेवीव, तेवीस, तेवीसा; अप० त्रेवीस, तेवीस > ख० बो० तेइस।

---

(१) S. K. Chatterji, O. and D. of the Bengali Language, Vol. II. § 512.

सं० चतुर्विंशति > प्रा० चौवीसा, अर्धमागधी प्रा० चउवीस > अप० चौवीस > ख० बो० चौबीस। राजस्थानी में बाइस और तेइस के समान 'व'-रहित 'चौईस' शब्द मिलता है।

सं० पञ्चविंशति > प्रा० पंचवीसं, पंचवीसा, पणवीसा > अप० पाणवीस, पणवीस। खड़ी बोली में प्राकृत के 'पंचवीसं' से मिलता-जुलता 'पच्चीस' रूप होता है।

सं० षड्विंशति > प्रा० छव्वीसा, अर्ध-मागधी प्रा० छव्वीस > अप० छव्वीस > ख० बो० छब्बीस। राजस्थानी में 'व'-रहित 'छाइस' ही रूप मिलता है।

सं० सप्तविंशति > अर्धमा० प्राकृत सत्तावीसा, सत्तवीस > प्रा० सत्तावीसा > अप० सत्तावीस > ख० बो० सत्ताइस।

सं० अष्टाविंशति > अर्धमा० प्राकृतअ ट्ठावीस, प्रा० अट्ठावीसा > अप० अट्ठावीस, अट्ठवीस; ख० बो० अट्ठाइस।

सं० ऊनत्रिंशत्, एकोनत्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० अउणत्तीस, प्रा० अउणत्तीसा > अप० उणत्तास > ख० बो० उंतीस। राजस्थानी में संस्कृत के 'एकोनत्रिंशत्' से बना हुआ 'गुणातीस' रूप वर्तमान है।

सं० त्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० तीसा, प्रा० तीसा > अप० तीस > ख० बो० तीस।

सं० एकत्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० इक्कत्तीस, प्रा० इक्कतीसा > अप० एकत्रिस > ख० बो० एकतीस। पूर्वी हिंदी तथा मैथिली में 'एकतिस' रूप मिलता है।

सं० द्वात्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० बत्तीस, प्रा० बत्तीसा > अप० बात्रिस > ख० बो० बत्तीस।

सं० त्रयस्त्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० तेत्तीस, प्रा० तेत्तीसा > अप० तेत्रिस > ख० बो० तेंतीस।

सं० चतुस्त्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० चौत्तीस, प्रा० चोत्तीसा > अप० चौत्रिस, चौतीस > ख० बो० चौंतीस, चौंतिस।

सं० पञ्चत्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० पणतीस, प्रा० पंचतीसा, पणतीसा > अप० पणत्रिस, पाँत्रिस, पाँतिस, पैंतिस > ख० बो० पैंतीस, पैंतिस। पंजाबी और राजस्थानी में 'पैंती' तथा गुजराती में 'पैंत्रिश' रूप होते हैं।

सं० षट्त्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० छत्रीस, प्रा० छत्तीसा, अप० छत्रिस, षटत्रीस > ख० बो० छत्तीस।

सं० सप्तत्रिंशत् > प्रा० सत्ततीसा > अप० सत्ततीस > ख० बो० सैंतीस। यहाँ खड़ी बोली में अनुस्वार का आगम हो जाना ध्यान देने के योग्य है। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश किसी में अनुस्वार नहीं है, फिर यह हिंदी में कहाँ से आ गया? तंतीस, चौंतीस, सैंतीस, तेंतालीस, सैंतालीस, चौंसठ और छाँछठ में भी इसी प्रकार अनुस्वार का आगम हो गया है।

संभवतः यह पैंतीस, पैंतालीस तथा पैंसठ आदि (जिनमें संस्कृत के 'ञ्' के कारण हिंदी में अनुनासिक उच्चारण हो गया है) के अनुकरण का फल है[१]।

सं० अष्टात्रिंशत् > अर्धमा० प्राकृत अट्ठत्तीस, अट्ठतीस, प्रा० अट्ठतीस > अप० अठत्रीस > ख० बो० अड़तीस।

सं० ऊनचत्वारिंशत्, एकोनचत्वारिंशत् इत्यादि > अर्धमा० प्रा० उनचालिस, एगूणचत्तालीस, प्रा० अउणचतालीसा > अप० एगुणचालीस; ख० बो० उंतालीस; राजस्थानी गुणतालीस, मेवाड़ी गुंणचालीस, गुणतालीस तथा गुण्यालीश।

---

(१) S. K. Chatterji, O. and D. of the Bengali Language. § 518.

सं० चत्वारिंशत् > अर्धमा० प्रा० चत्तालीस, प्रा० चत्तालीसा > अप० चालीस > ख० बो० चालीस।

खड़ी बोली के 'चालीस' में प्राकृत के 'त्त' का लोप हो गया है, पर जहाँ 'चालीस' के साथ दूसरे शब्दों की संधि हुई है वहाँ प्रायः सर्वत्र यह 'त्त' वर्तमान है और 'च' का लोप हो गया है। 'उन-तालिस' में हम 'च' का लोप और 'त' की स्थिति देख चुके हैं और 'एकतालीस', 'तेंतालीस', 'पैंतालीस', 'सैंतालीस' तथा 'अड़तालीस' में फिर आगे देखेंगे। यहाँ एक बात ध्यान देने की और भी है कि इन शब्दों में विद्यमान 'ल' संस्कृत के शब्दों में नहीं पाया जाता। खड़ी बोली में यह अपभ्रंश तथा प्राकृत से आया है; और प्राकृत में यह संस्कृत के 'र' के स्थान में आ गया है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यह 'ल' इन शब्दों में लुप्त हो जाने-वाले 'च' के स्थान पर आ गया है। पर यह अनुमान ठीक नहीं जान पड़ता। जब हिंदी की मूल भाषाओं अर्थात् अपभ्रंश और प्राकृत के शब्दों में 'ल' वर्तमान है तब खींचतान करके हिंदी के शब्दों को सीधे संस्कृत के शब्दों से मिलाने की आवश्यकता नहीं है।

एकतालीस—साठ

सं० एकचत्वारिंशत् :- प्रा० एकचत्तालीसा। प्राकृत के इस शब्द से 'च' का लोप करके 'एकअत्तालीस' की कल्पना भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं ने की है, और फिर उससे खड़ी बोली का 'एकतालीस' रूप निकाला है। सिंधी भाषा में 'एकेतालीह' शब्द अब भी वर्तमान है जो 'एकय-तालीह' का संकुचित रूप जान पड़ता है। अतः 'एकअत्तालीस' की कल्पना कोरी कल्पना ही नहीं है। अपभ्रंश में भी 'एकतालीस' ही मिलता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि पहले 'त' का लोप हो गया है, जैसा कि 'चालीस' में पाया जाता है। बाद में 'च' के स्थान पर 'त' होकर 'एकतालीस' बना है।

इस मत के माननेवालों ने 'एकतालीस' की उत्पत्ति नीचे लिखे हुए ढंग से मानी है—

सं० एकचत्वारिंशत् > प्रा० एक्कचत्तालीसा > एकचआलीस > एकचालीस > अप० एकतालीस > ख० बो० एकतालीस।

पर इस प्रकार 'च' का 'त' के रूप में परिवर्तित हो जाना किसी प्रमाण अथवा किसी अन्य उदाहरण से सिद्ध नहीं होता। अत: हम पहले दी हुई व्युत्पत्ति को ही ठीक मानते हैं। तैंतालीस, पैंतालीस, सैंतालीस तथा अड़तालीस भी एकतालीस ही के समान बने हैं। बयालीस, चौवालीस तथा छियालीस में 'च' के साथ 'त' का भी लोप हो गया है। ये लोप और आगम हिंदी में नहीं हुए हैं वरन् जिन प्राकृत-शब्दों से हिंदी के शब्द आए हैं उन्हीं में हो चुके थे। आगे दी हुई इन उपर्युक्त शब्दों की व्युत्पत्ति को देखने से यह कथन स्पष्ट रूप से समझ में आ जायगा।

सं० द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत् > प्रा० बायालीस > अप० बिंतालीस, बैतालीस; ख० बो० बयालीस, बयालिस।

सं० त्रिचत्वारिंशत्, त्रय:चत्वारिंशत् > अर्धमा० प्रा० तेयालीस, प्रा० तेचत्तालीस; अप० त्रयालीस > ख० बो० तेंतालीस। राजस्थानी और मेवाड़ी में क्रमश: 'तयाँलीस' और 'तियालीस' पाए जाते हैं।

सं० चतुश्चत्वारिंशत् > प्रा० चउच्चत्तालीसा, अर्धमा० प्रा० चउयालीस, चोयालीस > अप० चोयालीस > ख० बो० चौवालीस।

सं० पञ्चचत्वारिंशत् > अर्धमा० प्रा० पणयालीस, प्रा० पञ्चचत्तालीसा > अप० पणतालिस, पाँतालीस > ख० बो० पैंतालीस।

सं० षट्चत्वारिंशत् > प्रा० छच्चत्तालीसा, अर्धमा० प्रा० छायालीस > अप० छैहैतालीस; ख० बो० छियालीस।

सं० सप्तचत्वारिंशत् > अर्धमा० प्रा० सायालीस, सत्तचत्तालीस, सत्ताचालीस, प्रा० सत्तचत्तालीसा > अप० सततालीस > ख० बो० सैंतालीस।

सं० अष्टाचत्वारिंशत्, अष्टचत्वारिंशत् > अर्धमा० प्रा० अढ़याल, अढ़यालीस, अट्ठचत्तालीस, प्रा० अट्ठचत्तालीसा > अप० अट्ठतालीस > ख० बो० अड़तालीस।

सं० एकोनपञ्चाशत्, ऊनपञ्चाशत् इत्यादि > अर्धमा० प्रा० एगूणपण्णास, अउणपण्ण > प्रा० ऊणपंचासा > अप० उगुणपचास। प्राकृत के 'ऊणपंचासा[१]' से 'प' के लुप्त हो जाने से खड़ी बोली तथा पूर्वी हिंदी के 'उनचास' और 'ओनचास' आदि शब्द बने हैं। यह 'प' का लोप वैसा ही है जैसा हम 'उंतालीस' में 'च' का देख चुके हैं। बँगला के 'उनपंचास्' में गुजराती के 'ओगणपचास', पंजाबी के 'उणवंजा' या 'उणंजा' में प्राकृत का 'पंचासा' रूप, पूर्ण या संक्षिप्त रूप में वर्तमान है। पंजाबी और सिंधी में तो 'पचास' के योग से बने हुए प्रायः सभी शब्दों में 'पंचासा' का आभास पाया जाता है; जैसे—पंजाबी 'तिवंजा तिरवंजा,' सिंधी 'ट्रेवंजाह' (=५३); पंजाबी 'चोवंजा, चुवंजा', सिंधी 'चोवंजाह' (=५४); पंजाबी 'पंजवंजा', सिधी 'पंचवंजाह' (=५५); पंजाबी 'छिपंजा, छिवंजा', सिंधी 'छवंजाह' (=५६), इत्यादि।

सं० पञ्चाशत > प्रा० पण्णासा, पंचास > अप० पँचास > ख० बो० पचास।

---

(१) प्राकृत में यों तो पचास के लिये प्रायः संस्कृत के 'पञ्चाशत्' से बने हुए 'पण्णासा' (देखिए—वररुचि-कृत प्राकृतप्रकाश, अध्याय ३, ४४वाँ सूत्र) का ही प्रयोग होता है, पर उसमें दूसरा रूप 'पंचास' भी पाया जाता है। इसी 'पंचास' में 'ऊन' के योग से 'ऊणपंचासा' और 'ऊणवंचासा' बन गए हैं।

सं० एकपञ्चाशत् > प्रा० एक्कावण्णं, एक्कावण्ण > अप० एकावन > ख० बो० इक्यावन। यहाँ हम देखते हैं कि पञ्चाशत् > प्रा० पण्णासा, पंचास के स्थान में खड़ी बोली में केवल 'वन' रह गया है (इक्यावन = इक्या > एक + वन)। 'पञ्चाशत्' का यह रूप-परिवर्तन प्राकृत-काल में ही हो गया था जो 'एक्कावण्ण', 'बावण्ण', 'पण्णपण्ण' तथा 'छप्पण्णं' आदि रूपों में पाया जाता है। यौगिक संख्यावाचक शब्दों में हिंदी में संस्कृत के 'पंचाशत्' के स्थान पर 'वन' (इक्यावन, बावन इत्यादि) तथा 'पन' (तिरपन, पचपन इत्यादि) दो रूप पाए जाते हैं। आगे दी हुई इन शब्दों की व्युत्पत्ति के प्रसंग में हम देखेंगे कि प्राकृत के जिन शब्दों में 'वण्ण' हुआ है, उनमें हिंदी में 'वन' हो गया है।

सं० द्विपञ्चाशत्, द्वापञ्चाशत् > प्रा० बावण्णं, अर्धमागधी प्रा० बावण्ण > अप० बावन > ख० बो० बावन।

सं० त्रिपञ्चाशत्, त्रयःपञ्चाशत् > प्रा० तेवण्ण, अर्धमा० प्रा० तेवण्ण > अप० त्रेपन। प्राकृत के इन्हीं शब्दों से राजस्थानी का 'तेपन' बना है। पर भारतवर्ष की प्रायः अन्य सभी आर्य-भाषाओं में 'तिरपन' के वाचक शब्दों में 'र' पाया जाता है। राजस्थानी में भी दूसरा रूप 'तरेपन' होता है जिसमें 'र' विद्यमान है। कुछ अन्य भाषाओं के शब्द ये हैं—पूर्वी हिंदी 'तिरपन'; गुजराती 'त्रेपन'; मराठी 'त्रेपन'। बीम्स महाशय का मत है कि यह 'र' केवल उच्चारण में धीरे धीरे आ गया है, मूल शब्द प्राकृत का 'तेवण्ण' ही है। पर मिस्टर हार्नले का मत इसके विपरीत है। उनका कहना है कि इन शब्दों के बनने से पहले अपभ्रंश में 'त्रिप्पण्णं' शब्द अवश्य रहा होगा[1]। हिंदी भाषा के व्याकरण पर एक

---

(१) देखिए—हार्नले की Grammar of the Ganudian Languages, पृ० २४६, §. 397.

विशाल ग्रंथ के लेखक मिस्टर केलाग का भी मत यही है कि यह 'र' संस्कृत के 'त्रिपञ्चाशत्' के 'र्' का अवशेष है[1]। इसी प्रकार का 'र' 'तिरसठ', 'तिरासी', 'चौरासी' तथा 'तिरानवे' आदि में भी पाया जाता है, जो इन शब्दों में क्रमशः संस्कृत के 'त्रिषष्टि', 'अशीति', 'चतुरशीति' तथा 'त्रिनवति' से आया है। अतः 'त्रिप्पण्णां' की कल्पना निराधार नहीं जान पड़ती। इसी 'त्रिप्पण्णां' से ही खड़ी बोली का 'तिरपन' बना होगा जिसके लिये कुछ लोग 'त्रेपन' भी बोलते हैं।

सं० चतुःपञ्चाशत् > प्रा० चउप्पण्ण, अर्धमा० प्रा० चउ-वण्ण > अप० चोपन > ख० बो० चौवन। राजस्थानी और मेवाड़ी में अपभ्रंश के समान 'चोपन' रूप मिलता है।

सं० पञ्चपञ्चाशत् > प्रा० पंचावण्णा > अर्धमा० प्रा० पण-पण्ण, पणवण्णा तथा पणवन्नं। अपभ्रंश में 'पचवन' रूप पाया जाता है जिससे मेवाड़ी का 'पचाँवन' तथा राजस्थानी का 'पचावन' बने हैं। खड़ी बोली का 'पचपन' प्राकृत के *'पञ्चपण्ण' के आधार पर बना होगा। अपभ्रंश के 'पचवन' से निकले हुए 'पंचावन' का प्रयोग अब भी पूर्वी हिंदी में होता है।

सं० षट्पञ्चाशत् > प्रा० छप्पण्णा > अप० छप्पन > ख० बो० छप्पन।

सं० सप्तपञ्चाशत् > प्रा० सत्तावण्णा, सत्तावण्ण > अप० सत्तावन > ख० बो० सत्तावन।

सं० अष्टपञ्चाशत्, अष्टापञ्चाशत् > प्रा० अट्ठवण्णं, अर्धमा० प्रा० आट्ठवण्ण > अप० अट्ठावन > ख० बो० अट्ठावन।

---

(१) देखिए—केलाग की Grammar of the Hindi Language, § 248.

सं० एकोनषष्टि, ऊनषष्टि > प्रा० एगूणसट्ठ, अउणट्ठि > अप० उगुणसट्ठ > ख० बो० उनसठ।

साठ-अस्सी

सं० षष्टि > प्रा० सट्ठी > अप० सट्ठि > ख० बो० साठ।

सं० एकषष्टि > प्रा० एक्कसट्ठि > अप० एकसट्ठि > ख० बो० एकसठ।

सं० द्विषष्टि, द्वाषष्टि > प्रा० बासट्ठि > अप० बासट्ठि > ख० बो० बासठ।

सं० त्रयःषष्टि, त्रिशष्टि > प्रा० तेसट्ठि > अप० त्रेसट्ठि, त्रेसठि > ख० बो० तिरसठ।

सं० चतुष्षष्टि > प्रा० चोसट्ठि > अप० चासठि, चौसट्ठि, चौसठि > ख० बो० चौंसठ।

सं० पञ्चषष्टि > प्रा० पंचसट्ठि, अर्धमा० प्रा० पण्णट्ठि, पणसट्ठि > अप० पणसट्ठि, पाँसठि > ख० बो० पैंसठ।

सं० षट्षष्टि > प्रा० छासट्ठि > अप० छासट्ठि > ख० बो० छियासठ। 'चौंसठ', 'पैंसठ' आदि के अनुकरण पर ही खड़ी बोली में 'छियासठ' बन गया है। पूर्वी हिंदी में 'छाँछठि', मराठी में 'सासष्ट', सिंधी में 'छाहठि', पंजाबी में 'छियाहट्' तथा बँगला में 'छासठि' रूप होते हैं।

सं० सप्तषष्टि > प्रा० सत्तसट्ठी, सत्तसट्ठि > अप० सत्तसट्ठि > ख० बो० सड़सठ। पूर्वी हिंदी में 'सरसठि', 'सड़सठि' तथा 'सतसठि'; मराठी में 'सतसष्ट', 'सदसष्ट'; उड़िया में 'सतसठि'; बँगला में 'सातसठि'; राजस्थानी में 'सड़सट' तथा पंजाबी में 'सवाहट्' रूप होते हैं।

सं० अष्टाषष्टि, अष्टषष्टि > प्रा० अट्ठसट्ठी, अट्ठसट्ठी, अढसट्ठि > अप० अट्ठसट्ठि > ख० बो० अड़सठ।

सं० एकोनसप्तति, ऊनसप्तति इत्यादि > अर्धमा० प्रा० अउण-त्तरि, एगुणसत्तरि, प्रा० एगूणसत्तरि > अप० उगुणसत्तरि > ख० बो० उनहत्तर। ऊपर कहा जा चुका है कि द्वितीय और अष्टम दशकों में अन्य शब्दों के योग से खड़ी बोली के 'सत्तर' का 'स', 'ह' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी नियम के अनुसार इकहत्तर, बहत्तर, तिहत्तर आदि बने हैं। राजस्थानी में प्राकृत के 'बावत्तरि', 'तेवत्तरि', 'चोवत्तरि' आदि से मिलते-जुलते 'इकत्तर', 'बवत्तर' या 'छियंतर', 'सतंतर' तथा 'इठंतर' मिलते हैं जिनमें 'ह' वर्तमान नहीं है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि खड़ी बोली में आ जानेवाला यह 'ह' आधुनिककालीन प्रवृत्ति का फल है। अर्धमागधी प्राकृत के कुछ रूपों (पंचहत्तरि, सत्तहत्तर तथा अट्ठ-हत्तर) में भी संस्कृत-शब्दों (पञ्चसप्तति, सप्तसप्तति तथा अष्टसप्तति) के 'स' का 'ह' के रूप में परिवर्तन पाया जाता है।

पंजाबी, सिंधी तथा मराठी में भी 'ह' ही पाया जाता है; जैसे—'इकहत्तर' (पंजाबी); 'इकहतरि' (सिंधी); 'इकहत्तर' (मराठी)। यहाँ हम यह भी देखते हैं कि संस्कृत के 'सप्तति' के अंतिम 'त' के स्थान में खड़ी बोली में 'र' हो गया है। 'त' के स्थान में 'र' प्राचीन काल में ही होने लगा था। पाली भाषा में 'सत्तति' और 'सत्तरि' दोनों रूप पाए जाते हैं। भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं का अनुमान है कि 'त' के स्थान में पहले 'ट' हुआ होगा, फिर 'ट' का 'ड' हुआ होगा और तत्पश्चात् 'ड' के स्थान में 'र' हुआ होगा। इस प्रकार 'सप्तति' > 'सत्तति' > 'सत्तटि' > 'सत्तडि' > 'सत्तरि', 'सत्तर'। संख्यावाचक शब्दों के द्वितीय दशक में भी 'ड' > 'द' का 'र' के रूप में परिवर्तित हो जाना हम पहले देख चुके हैं (एकादश > *एआडस > ग्यारह; पञ्चदश > *पण्णडस > पंद्रह इत्यादि)।

सं० सप्तति > प्रा० सत्तरी, सत्तरि > अप० सत्तरि > ख० बो० सत्तर।

सं० एकसप्तति > प्रा० एक्कसत्तरि > अप० इकोतरै। खड़ी बोली में प्राकृत से मिलता-जुलता 'इकहत्तर' रूप पाया जाता है जिसका बोलचाल में प्रायः 'इखत्तर' के समान उच्चारण होता है। इसका कारण यही है कि जल्दी में 'क' के पश्चात् 'ह' का उच्चारण करने से दोनों मिलकर 'ख' के समान प्रतीत होते हैं।

सं० द्विसप्तति, द्वासप्तति > प्रा० वासत्तरि > अप० बुहुतरि, बोहतरि, बहुतरि, बहतरि, बहत्तरि > ख० बो० बहत्तर।

सं० त्रयःसप्तति, त्रिसप्तति > प्रा० तेसत्तरि > अप० तेवत्तरि > ख० बो० तिहत्तर।

सं० चतुस्सप्तति > प्रा० चोसत्तरि > अप० चौवत्तरि > ख० बो० चौहत्तर।

सं० पञ्चसप्तति > प्रा० पंचसत्तरि > अप० पंचत्तरि > ख० बो० पचहत्तर, जो बोलचाल में प्रायः 'पछत्तर' हो जाता है। इसका कारण 'च' और 'ह' का मिलकर 'छ' हो जाना है।

सं० षट्सप्तति > प्रा० छासत्तरि > अप० छावत्तरि > ख० बो० छिहत्तर, छियत्तर।

सं० सप्तसप्तति > प्रा० सत्तसत्तरि > अप० सत्तत्तरि > ख० बो० सतत्तर, सतहत्तर।

सं० अष्टासप्तति, अष्टसप्तति > प्रा० अट्ठसत्तरि > अप० अठोतर, अट्ठोत्तरि > ख० बो० अठत्तर।

सं० एकोनाशीति, ऊनाशीति > प्रा० एगुणसीइ > अप० उगुणासी > ख० बो० उनासी। राजस्थानी में गुण्यासी तथा मेवाड़ी में गुणियाशी रूप होते हैं जो प्राकृत के एगुणसीइ से मिलते-जुलते हैं।

सं० अशीति > प्रा० आसीई, असीइ > अप० असी > ख० बो० अस्सी।

सं० एकाशीति > प्रा० एक्कासीई, एकासीइ > अप० इकयासी > ख० बो० इक्यासी।

सं० द्व्यशीति > प्रा० बासीइ > अप० बायासी > ख० बो० बयासी।

सं० त्र्यशीति > प्रा० त्रेयासी > अप० त्रेयासी > ख० बो० तिरासी। 'तिरपन' के संबंध में लिखते समय ऊपर बताया जा चुका है कि 'तिरासी' का 'र' संस्कृत से ही आया है अतः यहाँ पर इस व्युत्पत्ति को दुहराने की आवश्यकता नहीं।

सं० चतुरशीति > प्रा० चउरासी, चौरासी, चउरासीइ > अप० चौरासी > ख० बो० चौरासी।

सं० पञ्चाशीति > प्रा० पंचासीइ > अप० पँचासी > ख० बो० पचासी।

सं० षडशीति > प्रा० छासीइ > अप० छयासी > ख० बो० छियासी। संस्कृत के 'ड' के स्थान में 'अ' तथा बाद में 'अ' के स्थान में 'य' हो जाने से 'छियासी' रूप बन गया है।

सं० सप्ताशीति > प्रा० सत्तासीइ > अप० सत्तासी > ख० बो० सत्तासी।

सं० अष्टाशीति > प्रा० अट्ठासीइ > अप० अट्ठासी > ख० बो० अट्ठासी।

सं० नवाशीति, एकोननवति इत्यादि > प्रा० नवासीइ > अप० नवासी > ख० बो० नवासी।

संस्कृत में एकोननवति का प्रयोग बहुत कम होता है, पर अर्ध-मागधी प्राकृत में उससे निकला हुआ 'एगूणणउइ' ही प्रयुक्त होता है। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है। संस्कृत शब्दों में विंशति

त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति तथा अशीति के ठीक पहलेवाले शब्द, इन शब्दों के पूर्व 'ऊन' का प्रयोग करके बनाए गए हैं; जैसे--'ऊनविंशति', 'ऊनत्रिंशत्' इत्यादि। पर 'नवाशीति' 'नव' और 'अशीति' के योग से बना है। 'ऊन' और 'नवति' के योग से बने हुए 'ऊननवति' का प्रयोग संस्कृत में बहुत कम पाया जाता है। आगे हम देखेंगे कि 'नवाशीति' के समान संस्कृत का 'नवनवति' (= ९९) भी बना है। इन्हीं दो शब्दों से उत्पन्न होने के कारण 'नवासी' और 'निन्नानवे', 'उन्नीस,' 'उंतीस', 'उंतालीस' आदि के समान 'उन'-युक्त नहीं पाए जाते हैं।

सं० नवति > प्रा० नउए > अप० णउइ। खड़ी बोली में 'नब्बे'; उड़िया में 'नबे', बँगला में 'नब्बइ', मराठी में 'नव्वद', सिंधी में 'नवे', पंजाबी में 'नव्वे, नब्बे' रूप मिलते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि इन सब शब्दों के मूल में प्राकृत का *'नव्वए' शब्द रहा होगा।

सं० एकनवति > प्रा० एकाणव्वई > अप० एक्कानवे > ख० बो० इक्यानवे। यहाँ हम देखते हैं कि 'आ' हो गया है। 'अ' का इस प्रकार दीर्घ हो जाना 'नब्बे' के योग से बने हुए सभी शब्दों (इक्यानवे, बानबे, तिरानबे आदि) में देखा जाता है। डाक्टर सुनीतिकुमार चैटर्जी ने इसका कारण 'इक्यासी' < सं० 'एकाशीति', 'पचासी' < सं० 'पंचाशीति' तथा 'सत्तासी' < सं० 'सप्ताशीति' का अनुकरण बतलाया है[1]। पर वास्तव में यह अनुकरण नवें दशक के शब्दों का नहीं है, वरन् दसवें दशक में ही पाए जानेवाले 'बानवे' तथा 'अट्टानवे' का है जिनमें संस्कृत के क्रमशः 'द्वानवति' तथा 'अष्टानवति' से ही 'आ' आ गया है। 'अ' का इस प्रकार दीर्घ हो जाना आधुनिककालीन प्रायः सभी भारतीय आर्य-भाषाओं के

(१) देखिए—S. K. Chatterji, § 530.

शब्दों में पाया जाता है; जैसे—बँगला 'इकान(व्व)इ', मराठी 'इक्याण्णव' (=९१), गुजराती 'नयाणूँ' (=९९)।

सं० द्वानवति > प्रा० बाणउइ > अप० बानवे > ख० बो० बानबे।

सं० त्रयोनवति, त्रिनवति > प्रा० तेणउइ > अप० त्राणु > ख० बो० तिरानबे। 'तिरानबे' में वर्तमान 'र', संस्कृत के 'त्र' से ही आया है। 'त्रि' का 'तिर' के समान उच्चारण करने की प्रवृत्ति अब भी जन-साधारण में हम देखते हैं; जैसे—'त्रिशूल' का 'तिरशूल'।

सं० चतुर्नवति > प्रा० चउणउइ > अप० चौरानवे > ख० बो० चौरानबे। इस शब्द का 'र' भी संस्कृत के ही 'र' से आया है।

सं० पंचनवति > प्रा० पंचाणउइ > अप० पंचानवे > ख० बो० पंचानबे। प्राचीन राजस्थानी में 'पंचाणु' रूप पाया जाता है।

सं० षण्णवति > प्रा० छण्णउइ > अप० छाँणवे > ख० बो० छानबे, छियानबे। प्राचीन राजस्थानी में 'छाँणु' रूप होता है।

सं० सप्तनवति > प्रा० सत्तणउइ > अप० सत्तानवे > ख० बो० सत्तानबे।

सं० अष्टनवति, अष्टानवति > प्रा० अट्ठाणउइ > अप० अट्ठानवे > ख० बो० अट्ठानबे। प्राचीन राजस्थानी में 'अट्ठाणुं' और 'अट्ठाणूं' रूप होते हैं।

सं० नवनवति > प्रा० नवाणव्वई, नवनउइ > अप० नवाणवे > ख० बो० निन्नानबे। प्राचीन राजस्थानी में 'नवाणुं', सिंधी में 'नवानवे', मराठी में 'नव्याण्णव' तथा बँगला में 'निरानव्वई' रूप पाए जाते हैं। प्राकृत शब्द के प्रथम 'व' के स्थान पर खड़ी बोली में 'न' हो गया है; अथवा यह 'न' पंजाबी 'नडिनव्वे' या 'नडिन्न' में के 'ड' के स्थान पर आ गया होगा।

सं० शत > प्रा० सत, सय, साश्र > अप० सउ > ख० बो० सौ। ऊपर कहा गया है कि 'सौ' के लिये 'सै' का भी प्रयोग होता है जो प्राकृत के 'सय' रूप से निकला है। मिस्टर केलाग ने अपने Grammar of the Hindi Language में इस शब्द को प्राकृत के 'सयन' से निकला हुआ माना है। उनका कथन है कि संस्कृत के 'शतम्' से प्राकृत में 'सयन' बना होगा, और फिर 'सयन' से 'सै' बन गया है। पर 'सयन' की अपेक्षा 'सय' से 'सै' का उद्भव होना अधिक संभव जान पड़ता है।

सौ से ऊपर जिस प्रकार खड़ी बोली में संख्यावाचक शब्दों की रचना की जाती है उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। जिन संख्याओं के विशेष नाम हैं वे भी ऊपर बताए जा चुके हैं। आगे उनकी उत्पत्ति के संबंध में विचार किया जायगा।

खड़ी बोली में दस सौ के लिये प्रायः 'हज़ार' शब्द का प्रयोग होता है। यह फारसी भाषा का शब्द है जो अन्य बहुत से फारसी के शब्दों के समान हिंदी भाषा में आ गया है। 'हज़ार' के लिये संस्कृत के तत्सम शब्द 'सहस्र' का भी प्रयोग खड़ी बोली में होता है। खड़ी बोली ने प्राकृत के 'सहस्स' (< सं० सहस्र) के आधार पर बना हुआ कोई शब्द ग्रहण नहीं किया है, पर पूर्वी हिंदी में 'सहस्स' से निकले हुए 'सहस' शब्द का प्रयोग होता है। ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानों के भारतवर्ष में आने के समय यहाँ की आर्य-भाषाओं की बोलचाल में 'दशशत' के समान किसी यौगिक शब्द का प्रयोग अधिकता से होने लगा था, और उस समय साहित्य में व्यवहृत 'सहस' तथा 'सहस्स' को लोग भूल से गए थे। उसी समय उन्हें फारसी का अयौगिक 'हज़ार' शब्द मिला, जिसे पहले उत्तर-पश्चिम की बोलियों ने ग्रहण किया होगा और तत्पश्चात् धीरे धीरे अन्य बोलियों में भी उसका प्रयोग होने लगा होगा।

खड़ी बोली का 'लाख' प्राकृत के 'लक्खं' < सं० लक्ष, लक्षा से आया है।

ख० बो० करोड़, कड़ोड़ < प्रा० कोडि < सं० कोटि।

ख० बो० अर्ब, अरब < सं० अर्बुद।

ख० बो० खर्व, खरब < सं० खर्व।

खड़ी बोली के 'नील' से मिलता-जुलता संस्कृत में कोई शब्द नहीं है। निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह शब्द कहाँ से आया है। संभवत: यह शब्द किसी अन्य भाषा से आया होगा।

ख० बो० पद्म < सं० महापद्म।

ख० बो० शंख < सं० शंकु।

कुछ शब्दों की संस्कृत के शब्दों से अर्थ-भिन्नता

अरब, खरब, पद्म और शंख के संबंध में एक विशेष बात ध्यान देने की है कि ये शब्द जिन संख्याओं का बोध कराने के लिये प्रयुक्त होते हैं उन संख्याओं के लिये इन शब्दों के मूल संस्कृत-शब्द नहीं प्रयुक्त होते। नीचे दिए हुए विवरण से इस कथन का स्पष्टीकरण हो जायगा।

संस्कृत के शब्द		खड़ी बोली के शब्द
शत	=	सौ
सहस्र	=	हजार (= १० सौ)
अयुत	=	दस हजार
लक्ष, लक्षा	=	लाख (= १०० हजार)
प्रयुत	=	दस लाख
कोटि	=	करोड़ (= १०० लाख)
अर्बुद	=	दस करोड़
अब्ज	=	अरब (= १०० करोड़)

ऊपर लिखे हुए शब्द क्रमशः अपने से पहलेवाले शब्द की दस गुनी संख्या का बोध कराते हैं। संस्कृत और खड़ी बोली के शब्दों की तुलना करने से विदित होता है कि जिस संख्या को खड़ी बोली में 'दस करोड़' कहेंगे वह संस्कृत में 'अर्बुद' कही जाती है। संस्कृत के 'अर्बुद' से निकला हुआ खड़ी बोली का 'अर्ब' या 'अरब', अर्बुद से दस गुनी अधिक संख्या अर्थात् 'अब्ज' का बोध कराता है। इसी प्रकार संस्कृत के 'खर्व' से निकले हुए खड़ी बोली के 'खरब' से संस्कृत के 'महापद्म' का, तथा संस्कृत के महापद्म से निकले हुए खड़ी बोली के 'पद्म' से संस्कृत के 'मध्य' का बोध होता है। संस्कृत के 'शंकु' से निकला हुआ खड़ी बोली का 'शंख' तो संस्कृत के संख्यावाचक शब्दों की सीमा को ही लाँघ गया है। मिस्टर केलाग ने अपने Grammar of the Hindi Language में हिंदी के संख्या-वाचकों की सूची देते हुए 'अरब' को 'दस करोड़' के बराबर माना है।

इस प्रकार मान लेने से खड़ी बोली का 'अरब' संस्कृत के 'अर्बुद' के बराबर हो जायगा। पर हिंदी में 'अरब' सौ करोड़ के बराबर माना जाता है। जान पड़ता है, केलाग महाशय लिखते समय भूल कर गए हैं।

यदि खड़ी बोली के 'अरब', 'खरब', 'पद्म' और 'शंख' को उनके मूल संस्कृत के रूपों (अर्थात् क्रमशः 'अर्बुद', 'खर्व', 'महापद्म' और 'शंकु') के ही बराबर मानें तो हिंदी में करोड़ के बाद संख्यावाचक शब्दों का क्रम निम्नलिखित ढंग पर रखना होगा—

करोड़ (= सं० कोटि)
अरब, अर्व (= सं० अर्बुद) = १० करोड़
दस अरब (= सं० अब्ज)
खरब (= सं० खर्व) = १०० अरब
पद्म, पदुम (= महापद्म) = १० खरब
शंख (= शंकु) = १० पद्म

अर्थात् 'दस करोड़' के लिये 'अरब', 'दस अरब' के लिये 'खरब', 'खरब' के लिये 'पद्म' तथा 'दस पद्म' के लिये 'शंख' का प्रयोग करना पड़ेगा जो हिंदी में प्रचलित संख्यावाचकों के क्रम के अनुसार न होगा। हिंदी में तो—

अरब = १०० करोड़,
खरब = १०० अरब,
पद्म = १०० नील, तथा
शंख = १०० पद्म।

यदि संस्कृतवाला क्रम हिंदी में लाया जाय तो हिंदी के गणितशास्त्र तथा हिंदी-भाषा-भाषी जनता की संख्या-संबंधिनी धारणा में बड़ा उलट-फेर करने की आवश्यकता होगी। फिर, यह भी आवश्यक नहीं है कि संस्कृत से आए हुए शब्द हिंदी में भी

उसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं जिस अर्थ में वे संस्कृत में प्रयुक्त होते हैं। अतः यहाँ पर इतना समझ लेना ही पर्याप्त होगा कि खड़ी बोली के उपर्युक्त संख्यावाचक शब्द संस्कृत के जिन शब्दों से निकले हैं उनसे भिन्न अर्थ रखते हैं।

पहले दी हुई, संस्कृत के संख्यावाचक शब्दों की, तालिका से यह भी विदित होता है कि संस्कृत के 'अयुत' (=१० हजार), 'प्रयुत' (=१० लाख),'अर्बुद' (=१० करोड़), 'खर्व' (=१० अरब), 'शंकु' (=१० खरब), 'अंत्य' (=१० नील) तथा परार्ध (=१० पद्म) के लिये खड़ी बोली में विशेष शब्द नहीं हैं। इन शब्दों का बोध 'दस हजार', 'दस लाख', 'दस करोड़' आदि कहकर कराया जाता है। संस्कृत के 'अयुत', 'प्रयुत', 'अब्ज', 'जलधि', अंत्य', 'मध्य' तथा 'परार्ध' से निकले हुए खड़ी बोली में कोई शब्द नहीं हैं।

(२) अपूर्णांक-बोधक

खड़ी बोली में निम्नलिखित अपूर्णांक-बोधक संख्यावाचक शब्द पाए जाते हैं —

पाव, चौथाई	सवा
तिहाई	डेढ़
आधा	अढ़ाई, ढाई
पौन	साढ़े०

'ढाई' के आगे 'हूँठा' (=साढ़े तीन), 'ढ्योंचा' (=साढ़े चार), 'पोंचा', 'प्योंचा' (=साढ़े पाँच), 'खोंचा' (= साढ़े छः) तथा 'सतोंचा' (=साढ़े सात) भी होते हैं, पर इनका प्रयोग केवल संख्याओं के पहाड़ों में ही होता है। इनके अतिरिक्त अन्य सब अपूर्णांकबोधक संख्यावाचक शब्द 'पौन', 'सवा' तथा 'साढ़े' की सहायता से बना लिए जाते हैं; जैसे 'पौने तीन', 'सवा तीन', 'साढ़े तीन' इत्यादि। किसी संख्यावाचक शब्द के पहले प्रयुक्त

होने पर 'पौन' शब्द का 'पौने' रूप हो जाता है। और भी अधिक सूक्ष्म संख्याओं का बोध क्रमबोधक संख्यावाचक शब्दों के साथ 'भाग', 'अंश' या 'हिस्सा' शब्द के प्रयोग द्वारा कराया जाता है; जैसे 'आठवाँ भाग', 'शतांश' (=सं० शत+अंश), 'सहस्रांश', 'हजारवाँ हिस्सा' इत्यादि। गणितशास्त्र में इस प्रकार की संख्याओं को सूचित करने के लिये 'बटा' शब्द का प्रयोग होता है; जैसे 'एक बटा छः' ($\frac{1}{6}$)। 'एक बटा छः' का अर्थ है 'छः भागों में बटा हुआ एक' अर्थात् एक का छठा भाग। इसी प्रकार 'सात बटा बीस' ($\frac{7}{20}$) अर्थात् बीस भागों में बटा हुआ सात=सात का बीसवाँ हिस्सा। ऐसे शब्दों को प्रायः लोग इस प्रकार भी समझते हैं कि 'सात बटा बीस' का तात्पर्य यह है कि एक वस्तु के बीस भाग किए गए और उनमें से सात भाग ले लिए गए। चाहे जिस प्रकार समझा जाय, जिस संख्या का बोध होता है वह दोनों दशाओं में एक ही होती है। सात सौ का बीसवाँ भाग पैंतीस, और सौ के बीस भाग करके उनमें से सात भाग लेने पर भी वही पैंतीस ही होता है। पर 'बटा' शब्द के अर्थ के अनुसार पहले कहे हुए ढंग से ही अर्थ लगाना अधिक स्वाभाविक जान पड़ता है।

जिन विशेष अपूर्णांकबोधक संख्यावाचकों के नाम ऊपर दिए गए हैं वे सभी संस्कृत के शब्दों से निकले हैं। 'चौथाई'

तिहाई; चौथाई

और 'तिहाई' क्रमशः संस्कृत के क्रमवाचक 'चतुर्थ' तथा 'तृतीय' में 'ई' अथवा 'आई' प्रत्यय लगाकर बनाए गए हैं। 'तिहाई' में 'ह' का योग केवल उच्चारण में सहायक के रूप में हो गया है। सं० तृतीय > प्रा० तइअ > तीआई > तिआई > तिहाई। संस्कृत में इसके लिये 'त्रिभागिका' शब्द का भी प्रयोग होता है।

पाव

ख० बो० पाव < अप० पाउ < प्रा० पाओ < सं० पादः (= चतुर्थांश)।

आधा

ख० बो० आधा < अप० अद्ध < प्रा० अढ्ढओ < सं० अर्ध, अर्धक।

पौन

ख० बो० पौन < प्रा० पाओणो, पाओन < सं० पादोन (पाद + ऊन) = चतुर्थांश कम। इसी 'पौन' से 'पौने' बना है जिसका प्रयोग (संख्याओं के पहले लगाकर) विशेषण के समान होता है।

सवा

ख० बो० सवा < अप० सवाउ < प्रा० सवाओ < सं० सपाद (स + पाद) = चतुर्थांश सहित।

'डेढ़' और 'ढाई' आदि की व्युत्पत्ति कुछ विचित्र है। संस्कृत के शब्दों के पूर्व 'अर्ध' का योग करके इन शब्दों के मूल शब्दों की रचना हुई है; जैसे—'अर्ध + द्वितीय' > मागधी प्रा० 'अड्ढदुइए', 'अड्ढुदिवइए'। 'अड्ढदुवए' से वर्ण-विपर्यय होकर 'दुइअड्ढए' और फिर 'दिवड्ढे' बन गया जिसका प्रयोग भोजपुरी में अब भी होता है। कुछ विद्वानों का मत यह भी है कि सं० 'द्व्यर्ध' से ही प्राकृत में 'दिवड्ढ' या 'दिअढ' बन गया होगा। प्राकृत के 'दिवड्ढे' या 'दिअढ' से ही खड़ी बोली का 'डेढ़', मराठी का 'दीड्', गुजराती का 'डोढ' तथा पंजाबी का 'डेउढा' या 'डूढा' बने हैं।

डेढ़

सं० अर्ध + तृतीया = अर्धतृतीया। प्राकृत में 'अर्ध' का 'अड्ढ' तथा 'तृतीया' का 'तइज्जा' हो गया। इस प्रकार प्राकृत में 'अड्ढ' + 'अइज्जा' = 'अड्ढाइज्जा' बन गया है। प्राकृत में सं० 'तृतीया' का एक और रूप 'तइया' भी होता है जिसमें 'अड्ढ' के योग से 'अड्-

ढाई

ढतइया'[1] और फिर 'त' के स्थान में 'अ' हो जाने से 'अड्ढअइया' रूप बन गया है। प्रा०—'अड्ढअइया' > 'अड्ढाइया' > 'अढा-इया' > 'अढ़ाई'। फिर 'अढ़ाई' के आदि के 'अ' का लोप हो जाने से 'ढाई' बन गया है। खड़ी बोली में 'अढ़ाई' तथा 'ढाई' इसी ढंग से बनकर आए हैं।

संस्कृत के 'अर्धद्वितीय' तथा 'अर्धतृतीय' का अर्थ समझना तनिक टेढ़ा सा जान पड़ता है। इसको इस प्रकार समझना चाहिए—अर्ध + द्वितीय (अर्धद्वितीय) = आधा दूसरा, अर्थात् दूसरा पूरा नहीं है, केवल आधा ही है। इस प्रकार इससे 'एक + आधा' का बोध होता है। इसी प्रकार 'अर्धतृतीय' = 'आधा तीसरा' अर्थात् दूसरा तो पूरा पूरा है पर तीसरा आधा ही है। आगे आनेवाले—'अर्धचतुर्थ' तथा 'अर्धपंचम' का भी अर्थ इसी ढंग से समझना चाहिए।

खड़ी बोली का 'साढ़े' प्राकृत के 'सड्ढओ' से बना है और प्राकृत का 'सड्ढओ' संस्कृत के 'सार्धक' = स + अर्धक अर्थात् आधे के सहित। इस प्रकार हम देखते हैं कि

साढ़े

'साढ़े' का प्रयोग खड़ी बोली में ठीक उसी अर्थ में होता है जो उसके मूल संस्कृत के शब्द का है। 'साढ़े' का प्रयोग स्वतंत्र रूप में नहीं होता; क्योंकि यह तो केवल विशेषण है, इससे किसी संख्या का बोध नहीं होता। इसलिये किसी न किसी संख्यावाचक शब्द के साथ लगाकर इसका प्रयोग किया जाता है; जैसे 'साढ़े तीन', 'साढ़े चार' इत्यादि।

'हूँठा' या 'उंठा' तथा 'ढ्योंचा' की उत्पत्ति भी 'डेढ़' और 'ढाई' के ही समान हुई है। सं० अर्धचतुर्थ > प्रा० अद्ध + चउट्ठ >

---

(१) सहसराम में पाए जानेवाले अशोककालीन शिलालेख में 'अढतिय' रूप पाया जाता है।

अद्ध + अउट्ठ > अद्ध + ओट्ठ > अद्धोट्ठ। शौरसेनी प्रा० में 'अद्धोट्ठ' तथा मागधी प्रा० में 'अद्धुट्ठ' रूप होता है। जैन अर्ध-मागधी प्राकृत में 'अड्ढुट्ठ' पाया जाता है, जिसे संस्कृत का बाना पहनाकर बाद में संस्कृत के 'अध्युष्ठ' शब्द की रचना की गई है। प्राकृत के 'अद्धोट्ठ' से 'अहोट्ठ' बना और फिर आदि के 'अ' का लोप हो जाने से 'होट्ठ' रह गया। 'होट्ठ' से बिगड़कर खड़ी बोली के 'हूँठा' और 'हुंठा' बने हैं। इन रूपों में से 'ह' के लुप्त हो जाने से खड़ी बोली का 'उंठा' तथा पंजाबी के 'ऊठा' और 'ऊँटा' बन गए हैं।

हुंठा

सं० अर्धपञ्चमः > प्रा० अड्ढवंचओ > अप० अड्ढौंचउ > ख० बो० ढौंचा, ढ्योंचा। पंजाबी में 'ढौंचा' रूप होता है।

ढ्योंचा

'प्योंचा', 'खोंचा' और 'सतोंचा', 'हूँठा' और 'ढ्योंचा' की भाँति, संस्कृत के शब्दों से निकलते हैं। 'हुंठा' तथा 'ढ्योंचा' के मूल संस्कृत शब्द, जिन संख्याओं का वे बोध कराते हैं उनके बाद के शब्दों के पूर्व 'अर्ध' का योग करके बनाए गए हैं; जैसे—अर्ध + पञ्चम,(अर्धपंचम) = साढ़े चार। पर 'प्योंचा' इत्यादि में उस प्रकार का क्रम नहीं दिखाई देता, प्रत्युत उसके विपरीत क्रम है। इन शब्दों में इनसे पहले-वाले शब्दों का आभास वर्तमान है; जैसे—'प्योंचा' (= साढ़े पाँच) में 'पाँच' का, 'खोंचा' (= साढ़े छः) में 'छः'[1] का तथा 'सतोंचा' (= साढ़े सात) में

प्योंचा

खोंचा, सतोंचा

---

(१) 'छः' की व्युत्पत्ति के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि संस्कृत के 'षष्' के 'ष' का हिंदी में 'छ' नहीं हुआ है, वरन् यह ईरानी भाषा के प्रभाव से आया है। मध्यकाल में 'ष' को 'स' करने की प्रवृत्ति थी, पर बाद में 'ख' भी होने लगा था। पुरानी हिंदी में 'ष' का उच्चारण 'ख' के समान

'सात' का। मिस्टर हार्नले[1] तथा मिस्टर केलाग[2] दोनों पश्चिमी विद्वानों का अनुमान है कि ये शब्द 'ख्योंचा' के अनुकरण पर बना लिए गए हैं। इन विद्वानों का अनुमान ठीक जान पड़ता है, क्योंकि संस्कृत के किसी शब्द से इनकी उत्पत्ति नहीं बताई जा सकती।

(३) क्रमवाचक

खड़ी बोली में क्रमवाचक शब्द पूर्णांकबोधक संख्यावाचकों में 'वाँ' प्रत्यय लगाकर बनाए जाते हैं; जैसे—'आठवाँ' (आठ + वाँ)। यह 'वाँ' प्रत्यय संस्कृत के 'म' प्रत्यय का विकृत रूप है जो इसी प्रसंग में प्रयुक्त होता है; जैसे—सं० 'दशम' (दश + म), ख० बो० आठवाँ। 'म' के स्थान पर 'वँ' हो जाना अपभ्रंश-काल की एक विशेष प्रवृत्ति थी जिसके कारण हिंदी में भी 'वँ' आ गया है। पर कुछ क्रमवाचक शब्द इस ढंग से बने हुए नहीं हैं। ये शब्द 'पहला, पहिला', 'दूसरा', 'तीसरा', 'चौथा' और 'छठा, छट्ठा' हैं, जो सीधे संस्कृत के क्रमवाचक शब्दों से बन गए हैं।

वैदिक संस्कृत में 'पहला' का समानार्थी 'प्रथ + इल'[3] शब्द पाया जाता है, जिसके मध्यकाल में *'पठिल्ल' *'पथिल्ल', *'पहिल्ल'

होता था। लिखने में 'ख' के स्थान पर प्रायः 'प' लिखा जाने लगा था। अतः 'खोंचा' में जो 'ख' विद्यमान है वह संस्कृत के 'षट्' के 'ष' का ही रूपांतर है।

(१) देखिए हार्नले का Grammar of the Gaudian Languages, § 416.

(२) देखिए केलाग का Grammar of the Hindi Language. § 251.

(३) वैदिक संस्कृत में 'प्रथ' अथवा 'प्रथिल' कोई प्रयुक्त शब्द नहीं है। विद्वानों की कल्पना है कि उस काल में 'प्र' उपसर्ग के तुलनावाचक 'प्रतर' और 'प्रतम' रूप बनते रहे होंगे; प्रतर से प्रथिर > प्रथिल > पथिल्ल > पढिल्ल > पहिल्ल आदि बनने के बाद 'पहिल' रूप विकसित हुआ और प्रतम से संस्कृत के प्रथम और प्राकृत के पढमो आदि रूप बने हैं।—सं०

रूप हो गए होंगे। पर लौकिक संस्कृत में 'प्रथम' शब्द पाया जाता है जिसकी उत्पत्ति वैदिक 'प्रथ' पर 'वैदिक काल' के भी पहले के 'प्रथम'[1] का प्रभाव पड़ने से हुई होगी[2]।

पहला

सं० 'प्रथम' > प्रा० 'पढमिल्ल' > 'पढइल्ल'। फिर 'ढ' के स्थान पर 'ह' होकर 'पहिल्ल' और तत्पश्चात् 'पहिला' या 'पहला' रूप हो गया है। यहाँ हम देखते हैं कि खड़ी बोली में अंतिम 'अ' दीर्घ हो गया है। अंतिम 'अ' को दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति हम खड़ी बोली के प्रायः सभी क्रमवाचक संख्यावाचक शब्दों में पाते हैं, जैसे—दूसरा, अठारहवाँ, चौबीसवाँ, हजारवाँ, इत्यादि। यह प्रवृत्ति न तो संस्कृत में पाई जाती है (एकादश से ऊनविंशति तक के संख्यावाचकों को छोड़कर) और न प्राकृत में ही; जैसे—सं० पञ्चम, षष्ठ, सप्तम, विंशतितमः, पाली अट्ठारसम; प्रा० पढमिल्ल। संभवतः संस्कृत के 'एकादशा', 'द्वादशा' त्रयोदशा (= ग्यारहवाँ, बारहवाँ, तेरहवाँ) आदि के अनुकरण से ही खड़ी बोली में यह प्रवृत्ति आ गई होगी।

खड़ी बोली के 'दूसरा' और 'तीसरा' की उत्पत्ति संस्कृत के 'द्वितीय' और 'तृतीय' से नहीं हुई है। ये शब्द किस प्रकार बने हैं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता[3]। मिस्टर हार्नले का अनुमान है कि ये शब्द क्रमशः संस्कृत के 'द्विसृत' और 'तिसृत' से निकले हैं[4]। 'सृत' का प्राकृत में 'सरिओ' या 'सरिअ' रूप होता

---

(१) इससे मिलता-जुलता 'फ़तेम' शब्द अवस्ता में पाया जाता है।

(२) देखिए—Origin and Development of the Bengali Language, § 536.

(३) 'द्विसर' से इसकी उत्पत्ति क्यों न मानी जाय।—सं०।

(४) देखिए—हार्नले का Grammar of the Gaudian Languages, § 271.

है, और वही हिंदी में "सर" प्रत्यय का रूप धारण कर लेता है। 'सरा' का स्त्रीलिंग में 'सरी' रूप हो जाता है। इस प्रकार सं० 'द्विस्सृत:' (द्वि+सृत) > प्रा० 'दूसरिओ' या 'दूसरिया' > ख० बो० 'दूसरा'। सं० 'द्विस्सृतिका' > प्रा० 'दूसरिइआ' > ख० बो० 'दूसरी' (स्त्रीलिंग), सं० 'त्रिसृत' > प्रा० 'तीसरिओ' या 'तीसरिआ' > ख० बो० 'तीसरा' (पुँल्लिग)। सं० 'त्रिसृतिका' > प्रा० 'तीसलिइआ' > ख० बो० 'तीसरि' (स्त्रीलिंग)। संस्कृत के 'सृत' का अर्थ है 'चला हुआ' या 'रेंगा हुआ'।

पुरानी हिंदी के 'दूजौ' या 'दूजो' तथा 'तीजौ या तीजो' क्रमश: संस्कृत के 'द्वितीय' (> प्रा० दुइज्जओ, दुइअओ) तथा सं० 'तृतीय' (>प्रा० तइज्जओ, तइअओ) से निकले हैं। संस्कृत के 'द्वि' का प्राकृत में एक रूप 'वे' भी होता है जिसके क्रमवाचक 'विइअओ' और 'वीअओ' रूप बनते हैं। इसी से सिंधी का 'वीओ' या 'बिजो' तथा गुजराती का 'वीजो' बने हैं।

चौथा

सं० चतुर्थ > प्रा० चउत्थओ > ख० बो० चौथा। पंजाबी में 'चौथा', गुजराती में 'चोथो', सिंधी में 'चोथों' तथा मराठी में 'चवथा' रूप पाए जाते हैं।

छठा

सं० षष्ठ: > प्रा० छट्ठओ, छट्ठो > ख० बो० छठा। खड़ी बोली का 'छठवाँ' संस्कृत के 'षषम:' के अनुकरण से बनाया गया है, पर संस्कृत में 'पञ्चम:' और 'सप्तम:' आदि के समान 'षषम:' शब्द का प्रयोग नहीं होता। अत: यह अनुमान करना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है कि हिंदी के क्रमवाचक 'पाँचवाँ', 'सातवाँ', 'आठवाँ' आदि के अनुकरण से ही उन्हीं के समान 'छठवाँ' रूप भी बना लिया गया होगा। मराठी, पंजाबी तथा सिंधी में भी इसी प्रकार के रूप बनते हैं; जैसे—मराठी

'सहा' (= ६) से 'सहावा'; पंजाबी 'छे' (= ६) से 'छेवाँ' तथा सिंधी 'छह' (= ६) से 'छहें'।

'एकादश' से लेकर 'ऊनविंशति' तक के क्रमवाचक शब्दों का अनुकरण हिंदी में नहीं पाया जाता। संस्कृत में उपर्युक्त क्रम-वाचक शब्द अंतिम 'अ' के स्थान में पुँल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंगों में क्रमश: 'आ', 'ई' और 'म्' लगाकर बनाए जाते हैं; जैसे—'एकादशा' (= ग्यारहवाँ—पुँल्लिंग), 'एकादशी' (=ग्यारहवीं—स्त्रीलिंग), 'एकादशं' (ग्यारहवाँ—नपुंसकलिंग)। पर खड़ी बोली में, अन्य शब्दों में लगनेवाले संस्कृत के 'म' के अनुकरण के अनुसार सर्वत्र 'वाँ' का ही प्रयोग किया जाता है।

महीने की तिथियाँ

महीने की तिथियों का बोध कराने के लिये खड़ी बोली में जिन शब्दों का प्रयोग होता है उनमें से 'परीवा', 'अमावस' और 'पूनो' को छोड़कर प्राय: सभी क्रमवाचक संख्यावाचक शब्द हैं। पर तिथि-बोधक शब्द हिंदी के साधारण क्रमवाचक संख्यावाचकों से भिन्न हैं। ये शब्द संस्कृत के तिथिबोधक शब्दों से निकले हुए हैं। संस्कृत में तिथियों का बोध क्रमवाचक शब्दों के स्त्रीलिंग के रूपों के द्वारा कराया जाता है। वास्तव में ये शब्द 'तिथि' शब्द के विशेषणों के समान प्रयुक्त हुए हैं, जैसे 'द्वितीया तिथि:', 'तृतीया तिथि:' इत्यादि। यही कारण है कि तिथिबोधक शब्द स्त्रीलिंग-रूप में पाए जाते हैं। पर अब 'तिथि' शब्द लुप्त हो गया है और तिथि-बोधक विशेषणों का प्रयोग संज्ञाओं के समान होता है; जैसे—द्वितीया= द्वितीया-तिथि।

ऊपर कहा गया है कि 'परीवा', 'अमावस' और 'पूनो' क्रमवाचक संख्यावाचक शब्दों से निकले हुए शब्द नहीं हैं। 'परीवा' की उत्पत्ति संस्कृत के 'प्रतिपदा' से, 'अमावस' की संस्कृत के

'अमावस्या' से तथा 'पूनो' की संस्कृत के 'पूर्णिमा' या 'पूर्णमासी' से हुई है। नीचे दिए हुए, खड़ी बोली तथा संस्कृत के, तिथि-बोधक शब्दों से स्पष्ट हो जायगा कि खड़ी बोली के शब्दों की उत्पत्ति संस्कृत के किन शब्दों से हुई है। आजकल खड़ी बोली में मारवाड़ी के तिथिबोधक शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक होने लगा है, इसलिये मारवाड़ी के भी शब्दों को साथ साथ लिख देना अनावश्यक न होगा।

संस्कृत	खड़ी बोली	मारवाड़ी
प्रतिपदा, प्रथमा	परीवा	एकम
द्वितीया	दूज	दूज, बीज
तृतीया	तीज	तीज
चतुर्थी	चैाथ	चैाथ
पञ्चमी	पंचमी	पाँचम
षष्ठी	छठ, छट्ठ	छठ
सप्तमी	सत्तमी	सातम
अष्टमी	अष्टमी	आठम
नवमी	नैामीं	नवम
दशमी	दसमीं	दस्सम
एकादशी	एकादसी	ग्यारस
द्वादशी	द्वादसी	बारस
त्रयोदशी	तेरस	तेरस
चतुर्दशी	चैादस	चैादस
अमावस्या	अमावस, मावस	अमावस
पूर्णमासी	पूर्णमासी, पूनो	पूनम, पून्यूँ
पूर्णिमा	पून्या	

केलाग महाशय ने 'परीवा' को सं० 'प्रथमा' से निकला हुआ माना है[1]। उनका कथन है कि 'प्रथमा' के 'थ' का लोप, तथा 'म' के स्थान पर 'व' हो जाने से 'प्रवा' शब्द बना होगा और फिर युक्तविकर्ष से 'प्रवा' का 'परवा' और तत्पश्चात् 'परीवा' बन गया होगा। पर इस प्रकार 'थ' का मनमाना लोप कराकर खींचतान करके हठात् 'परीवा' को 'प्रथमा' से निकला हुआ प्रमाणित करना केलाग महोदय की भूल है। 'परीवा' शब्द 'प्रथमा' से नहीं वरन् 'प्रतिपदा' से निकला है। सं० 'प्रतिपदा' का प्राकृत में 'पाडिवआ[2]' रूप हो जाता है। इसी 'पाडिवआ' से 'पाड़िवा' और फिर 'परीवा' बन गया है। मराठी में अब भी 'पाड़िवा' रूप विद्यमान है।

'दूज', 'तीज', 'चौथ' तथा 'छठ' की उत्पत्ति का वर्णन ऊपर क्रमवाचक शब्दों की उत्पत्ति के प्रसंग में हो चुका है। खड़ी बोली के शेष अन्य तिथि-बोधक शब्द संस्कृत के शब्दों से बहुत अधिक मिलते हैं, अतः उनकी उत्पत्ति को समझने में कोई कठिनता नहीं है।

संस्कृत के तत्सम तिथिबोधक शब्दों का भी प्रयोग प्रायः खड़ी बोली में होता है।

(४) आवृत्तिवाचक

खड़ी बोली के आवृत्तिवाचक संख्यावाचक शब्द पूर्णांक-बोधक तथा अपूर्णांक-बोधक संख्यावाचकों के बाद 'गुना' लगाकर बनाए जाते हैं; जैसे—'नौगुना', 'दसगुना', 'हजारगुना', 'ढाई गुना', 'पौने चार गुना' इत्यादि। स्त्रीलिंग में 'गुना' का 'गुनी' रूप हो जाता है; जैसे—'नौगुनी', 'हजारगुनी', 'ढाई गुनी' इत्यादि। 'गुना' शब्द के योग से कुछ पूर्णांक-बोधक संख्यावाचकों में थोड़ा सा

(१) देखिए—Kelogg's Grammar of Hindi § 252 (*a*).
(२) देखिए—वररुचि कृत प्रा० प्रकाश, परिशिष्ट १, सूत्र २।

विकार हो जाता है। विकृत हो जानेवाले शब्द 'दो', 'तीन', 'चार', 'पाँच', 'सात' और 'आठ' हैं। इन शब्दों के आवृत्तिवाचक रूप बनाने में इनमें जो विकार उपस्थित हो जाता है वह नीचे दिए हुए शब्दों को देखने से स्पष्ट हो जायगा।

पूर्णांक संख्याबोधक	आवृत्तिवाचक
दो	दुगुना, दुगना, दूना
तीन	तिगुना
चार	चौगुना
पाँच	पँचगुना
सात	सतगुना
आठ	अठगुना

'गुना' शब्द संस्कृत के 'गुणक' से निकला है। खड़ी बोली के आवृत्तिवाचक संख्यावाचक शब्द, प्राय: संस्कृत के बने-बनाए शब्दों के प्राकृत से होकर आए हुए रूप हैं। उदाहरणार्थ 'दुगुना' को लीजिए। सं० 'द्विगुणकम्' > प्रा० 'दुगुणअं' > 'दुगुनं' > ख० बो० 'दुगुना', 'दुगना'। फिर 'दुगना' के 'ग' का लोप हो जाने से एक दूसरा रूप 'दूना' भी बन गया। इसी प्रकार सं० 'त्रिगुणकम्' > प्रा० 'तिगुणअं' > ख० बो० 'तिगुना'; सं० 'चतुर्गुणकम्' > प्रा० 'चउगुणअं' > ख० बो० 'चौगुना'।

आवृत्तिवाचक शब्दों के अंतर्गत एक और प्रकार के भी शब्द पाए जाते हैं जो अँगरेजी में 'Reduplicatives' कहे जा सकते हैं। इस प्रकार के शब्द प्राय: 'लड़ा' और कभी कभी 'हरा' शब्दों के योग से बनाए जाते हैं; जैसे—'दुलड़ा', 'तिलड़ा', 'इकहरा', 'दुहरा' इत्यादि। 'हरा' के योग से बननेवाले शब्द 'इकहरा', 'दोहरा', 'तेहरा' और 'चौहरा' हैं। मिस्टर हार्नले ने इस 'हरा' प्रत्यय की उत्पत्ति संस्कृत के 'विध' शब्द से मानी है। 'विध' का अर्थ है 'रूप' या

'ढंग'। प्राकृत में 'विध' का 'विह' रूप हो जाता है। हार्नले महोदय का कहना है कि प्राकृत के इस 'विह' के 'वि' का लोप हो जाने तथा उसमें 'रा' प्रत्यय का योग हो जाने से 'हरा' शब्द बन गया है। अपने कथन की पुष्टि के लिये उन्होंने 'दोहरा' की उत्पत्ति के क्रम का निम्नांकित ढंग से उदाहरण दिया है—

सं० द्विविध > प्रा० दुविह, वेविह > अप० दोहडउ, बेहड > ख० बो० दोहरा।

'लड़ा' शब्द संस्कृत के 'लता'[1] से निकला हुआ जान पड़ता है, पर हिंदी में इसका अर्थ दूसरा ही हो गया है। 'लड़ा' और 'हरा' के योग से बने हुए शब्द प्रायः मालाओं आदि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

(५) गुणावाचक

खड़ी बोली के गुणावाचक संख्यावाचक शब्दों की उत्पत्ति के संबंध में कोई विशेष बात कहने की नहीं है। ये शब्द प्रायः समुदायबोधक संख्यावाचकों की सहायता से बनाए जाते हैं; जैसे—'तीन अठे चौबीस' में 'अठे'='आठ के समुदाय', अर्थात् तीन आठ के समुदाय चौबीस के बराबर होते हैं। अधिकांश गुणावाचक शब्द समुदायवाचकों में बहुवचन का चिह्न है, और इन शब्दों में ठीक उसी प्रकार लगाया जाता है जिस प्रकार आकारांत पुँल्लिग संज्ञाओं के कर्ताकारक के बहुवचन में। उदाहरण के लिये 'घोड़ा' शब्द को लीजिए। कर्ताकारक बहुवचन में इसका 'घोड़े' रूप होगा। ठीक उसी प्रकार 'अट्ठा' का 'अट्ठे', 'पंजा' का 'पंजे' इत्यादि रूप हो जाते हैं। पर यह नियम सर्वव्यापी नहीं है। इसके अपवाद-रूप कुछ गुणावाचक

---

(१) संस्कृत के 'सर' शब्द से 'हरा' की उत्पत्ति क्यों न मानी जाय ?—सं०।

शब्दों के विचित्र ही रूप बनते हैं; जैसे—'एकं', 'दूना', 'ती, तीन', 'चौक, चौका', 'दहाम', 'सवा' (१ १/४), 'ढाम, ढामा' (२ १/२) इत्यादि।

गुणावाचक संख्यावाचक शब्दों का उपयोग संख्याओं के पहाड़ों को पढ़ते समय होता है।

(६) समुदायवाचक

खड़ी बोली के समुदायवाचक संख्यावाचक शब्द प्रायः 'आ' या 'ई' लगाकर बनाए जाते हैं; जैसे—'बीस' से 'बीसा' (=बीस का समुदाय); 'पचीस' से 'पचीसा', 'पचीसी' (=पचीस का समुदाय); 'बत्तीस' से 'बत्तीसी' (=बत्तीस का समुदाय); 'हज़ार' से 'हज़ारा', 'हज़ारी' (=हज़ार का समुदाय) इत्यादि। यह 'आ' प्रत्यय का अवशेष-चिह्न है। आगे इसका स्पष्टीकरण होगा। खड़ी बोली के कुछ शब्दों (एक्का, दुक्का, तिक्का, चौका आदि) में संस्कृत के 'कम्' से आया हुआ 'क' भी अब तक विद्यमान है। इन शब्दों की उत्पत्ति का क्रम निम्न-लिखित है—

एक्का — सं० एककम् > प्रा० एकअं > ख० बो० एक्का।

दुक्का — सं० द्विकम् > प्रा० द्विकअं > ख० बो० दुक्का।

तिक्का — सं० त्रिकम्, त्रिककम् > प्रा० तिअं, तिक्कअं > ख० बो० तिक्का।

चौका — सं० चतुष्कम्, चतुष्ककम् > प्रा० चउक्कं, चउक्कअं > ख० बो० चौका।

पंचा — सं० पञ्चकम् > प्रा० पंचअं > ख० बो० पंचा, पंजा। यहाँ हम देखते हैं कि 'पंचा' और 'पंजा' में उपरि-लिखित शब्दों के समान 'क' नहीं है। इसका कारण यही है कि प्राकृत में ही इस वर्ण का लोप हो गया था।

छक्का — सं० षट्ककम् > प्रा० छक्कअं > ख० बो० छक्का।

सत्ता — सं० सप्तकम् > प्रा० सत्तअं > ख० बो० सत्ता।

अट्ठा — सं० अष्टकम् > प्रा० अट्ठअं > ख० बो० अट्ठा। 'पंचा' के समान 'अट्ठा' से भी 'क' का लोप हो गया है।

कुछ शब्दों में स्वार्थक (जो उसी अर्थ का वाचक रहता है) 'ड़ा' प्रत्यय भी लगा हुआ पाया जाता है; जैसे—सं० 'चतुष्ककम्' > अप० 'चउक्कडउ' > ख० बो० 'चौकड़ा' (पुँल्लिग), 'चौकड़ी' (=चार का समुदाय) शब्द वर्तमान है। सं० 'शतकम्' > अप० 'सयक्कडउ' > ख० बो० 'सैकड़ा' (=सौ का समुदाय)। ताश का एक खेल जिसे छः आदमी खेलते हैं 'छकड़ी' कहलाता है। उसमें भी इसी 'ड़ा' का स्त्रीलिंग रूप 'ड़ी' वर्तमान है।

'ड़ा' प्रत्यय

'ड़ा' ही के समान कहीं कहीं 'ला' भी दिया जाता है; जैसे—ताश के पत्तों का 'नहला' (अर्थात् नौ अंकों का समूह) और 'दहला' (अर्थात् दस अंकों का समूह)।

'ला' प्रत्यय

उपर्युक्त ढंगों से बनाए हुए शब्दों के अतिरिक्त कुछ और भी बने-बनाए शब्द पाए जाते हैं जिनसे संख्याओं के समुदाय का बोध होता है। वे शब्द ये हैं—

जोड़ा, जोड़ी (=दो का समुदाय)
गंडा (=चार का समुदाय)
गाहो, पचकरी(=पाँच का समुदाय)
कोड़ी (=बीस का समुदाय)

इन शब्दों में से 'पचकरी' तो स्पष्ट रूप से पाँच से बना हुआ जान पड़ता है, पर अन्य शब्दों की उत्पत्ति के संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इनके संबंध में कुछ विद्वानों के किए हुए अनुमान नीचे लिखे जाते हैं।

पचकरी

*

'जोड़ा' शब्द अपभ्रंश के 'जुग्रडंड' से आया होगा, अथवा संस्कृत की 'जुट्' या 'जुड्' (=जोड़ना, मिलाना) धातु के आधार पर बना होगा। अथवा इसका संबंध संस्कृत के 'युग्म' (=दो का समूह) शब्द से होगा। पर ये दोनों अंतिम अनुमान ठीक नहीं प्रतीत होते। 'जोड़ा' शब्द न तो 'जुट्' धातु से हिंदी में बना लिया गया है और न संस्कृत के 'युग्म' का ही विकृत रूप हो सकता है।[1] भाषा-विज्ञान का कोई नियम 'म' का 'ड' या 'ड़' नहीं करता। मेरा तो अनुमान है कि यह शब्द भारतवर्ष में बोली जानेवाली किसी अनार्य भाषा के प्रभाव से अपभ्रंश-काल में ही आ गया था। द्रविड़ परिवार की 'कोत' नामक विभाषा में 'येड़े'[2] शब्द 'दो' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। तिब्बत-वर्गीय विभाग की 'चंबा लाहुली' विभाषा में, जो हिमालय के प्रांतों में बोली जाती है, 'दो' के लिये 'जुड़'[3] शब्द का प्रयोग होता है। 'कोत' विभाषा के 'येड़े' के 'य' के स्थान पर 'ज' हो जाने से 'जोड़े' या 'जोड़ा' शब्द बन जाता है। 'य' के स्थान पर 'ज' कर देने की प्रवृत्ति तो हिंदी में बहुत पुरानी है; जैसे—यमुना > जमुना।

जोड़ा

---

(१) 'युगल' शब्द से उसकी उत्पत्ति मानना ठीक होगा। सं०।

(२) देखिए—Grierson's Linguistic Survey of India, vol I, part II, पृ० ५।

(३) देखिए—वही, पृ० ४।

हिमालय-प्रदेश की 'चंबा लाहुली' के 'जुड़' शब्द से भी 'जोड़ा' की उत्पत्ति संभव है। इन्हीं बोलियों के संपर्क से हिंदी में 'जोड़ा' शब्द आ गया होगा।

गंडा

'गंडा' के संबंध में विद्वानों का अनुमान है कि यह संस्कृत के 'गंडक' शब्द (?) से आ गया होगा।

'गाही' शब्द का संबंध ज्योतिष के 'ग्रह' से माना गया है। आजकल तो नौ ग्रह माने जाते हैं, पर संभव है किसी समय में पाँच ही ग्रह माने जाते रहे हों। संस्कृत में देवताओं आदि के नाम से संख्याओं की व्यंजना करने की प्रथा अब तक भी वर्तमान है। अश्विनीकुमार से 'दो' का, आदित्य से 'बारह' का, रुद्र से 'ग्यारह' का तथा वसु से 'आठ' का बोध होता है। पर इस प्रकार के शब्द संख्यावाचक शब्दों के अंतर्गत नहीं माने जा सकते, क्योंकि यह तो संख्याओं को व्यंजित करने का एक आलंकारिक ढंग है। हिंदी-काव्य में भी कहीं कहीं इस प्रकार के शब्दों के द्वारा संख्याएँ सूचित की गई हैं। 'गाही' के संबंध में एक अनुमान यह भी है कि यह 'दारया' बोली में पाँच के अर्थ में बोले जानेवाले 'ग्वाइ' शब्द के प्रभाव से आया होगा। 'ग्वाइ' का 'गाहि' या 'गाही' रूप बन जाना कठिन नहीं है।

गाही

'कोड़ी' शब्द का संबंध 'कौड़ी' (=सं० कपर्दक) से जान पड़ता है। संभवतः पहले कभी बीस कौड़ियों का समूह किसी विशेष सिक्के के समान माना जाता रहा हो और फिर 'कौड़ी' या 'कोड़ी' शब्द से ही 'बीस' का बोध होने लगा हो। पर मेरा अनुमान तो यह है कि 'कोड़ी' शब्द अनार्य भाषाओं के संसर्ग से हिंदी में आया है। द्रविड़

कोड़ी

परिवार की 'ओराओं' विभाषा में 'कूरी'[1] तथा 'मल्तो' विभाषा में 'कोड़ी'[1] ओंड' शब्दों का प्रयोग बीस के अर्थ में होता है। संभवतः हिंदी में इन्हीं विभाषाओं में से किसी एक के संसर्ग से 'कोड़ी' शब्द बन गया होगा। इस प्रकार का प्रभाव केवल हिंदी ही पर नहीं पड़ा है, वरन् आर्यभाषाओं के अंतर्गत बँगला, सिरिपुरिया, छाकमा तथा आसामी भाषाओं पर भी इन्हीं बाहर भाषाओं में से किन्हीं का प्रभाव पड़ा है जिसके फल-स्वरूप उनमें बीस के लिये अब भी क्रमशः 'कोड़िए', 'कुड़ि', 'कुरी' तथा 'कुरि' शब्दों का प्रयोग होता है[2]। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का मत है कि 'कोड़ी' की उत्पत्ति कोल-भाषाओं के 'कोड़ी' शब्द से हुई है जो अब भी तामिल भाषा में बीस के अर्थ में बोला जाता है[3]।

(७) प्रत्येकबोधक

प्रत्येकबोधक शब्दों की रचना के अनेक ढंग हैं। 'प्रति', 'हर' और 'फी' आदि शब्दों की सहायता से बननेवाले शब्द बहुत अधिक प्रयुक्त होते हैं। कभी कभी पूर्णांक तथा अपूर्णांकबोधक संख्यावाचक शब्दों की द्विरुक्ति से भी प्रत्येकबोधक शब्द बना लिए जाते हैं; जैसे—'एक एक लड़के को **आधा आधा** फल मिला'। 'प्रति' संस्कृत का तत्सम है तथा 'हर' और 'फी' फारसी भाषा के शब्द हैं।

संख्याओं की अनिश्चितता

अभी तक संख्यावाचक शब्दों के जिन सात भेदों का वर्णन किया गया है वे सब किसी न किसी निश्चित संख्या का बोध कराते हैं। पर कभी कभी अनिश्चित रूप से संख्याओं का बोध कराया जाता है। इसके

(१) देखिए—Grierson's Linguistic Survey of India, vol. I, part II, पृ० २३।

(२) देखिए—वही, पृ० २३।

(३) देखिए—S. K. Chatterji—O. and D. of the Bengali Language § 523.

लिये प्रायः 'एक' शब्द को संख्यावाचक शब्दों के पूर्व अथवा पश्चात् लगाते हैं; जैसे—'एक दस' या 'दस एक', 'सौ एक', 'चार एक', 'पाँच एक' इत्यादि।

'एक' की अनिश्चितता सूचित करने के लिये उसके पश्चात् आध का योग कर देते हैं जिसके फल-स्वरूप 'एक आध' या 'एकाध' बन जाता है। कभी कभी पूर्णांकबोधक संख्यावाचक शब्दों के साथ उनके ठीक ऊपर वाली संख्याओं के वाचक शब्दों का योग करके अनिश्चितता प्रकट की जाती है; जैसे—'तीन-चार', 'दस-ग्यारह' इत्यादि।

अपूर्णांकबोधक शब्दों के पश्चात् कभी कभी उनके ऊपर के पूर्णांकबोधक संख्यावाचक शब्दों को मिलाने से अनिश्चितता सूचित की जाती है; जैसे—'डेढ़-दो', 'ढाई-तीन' इत्यादि। कभी कभी किसी संख्या की दसगुनी संख्या के वाचक शब्द के साथ किसी दूसरी संख्या की दसगुनी या पँचगुनी संख्या के वाचक शब्द का योग करके अनिश्चित संख्या का बोध कराया जाता है; जैसे—'दस-पाँच', 'दस-पंद्रह', 'पंद्रह-बीस', 'पचीस-तीस', 'पचास-साठ', 'सौ-सवा सौ', 'सौ-डेढ़ सौ', सौ-दो सौ' इत्यादि।

नियमपूर्वक बने हुए शब्दों के अतिरिक्त अनिश्चित संख्याओं को सूचित करनेवाले कुछ शब्द मुहावरे से बन गए हैं जो किसी विशेष नियमानुसार नहीं हैं; जैसे—'दो-चार', 'पाँच-सात', 'आठ-दस' इत्यादि।

कभी कभी 'ओं' प्रत्यय के प्रयोग से भी अनिश्चितता सूचित की जाती है; जैसे—'दंगल में **बीसों** कुश्तियाँ हुईं', 'सभा में **हजारों** आदमी थे। परंतु कभी कभी ठीक इसके विपरीत, 'ओं' प्रत्यय के द्वारा निश्चितता भी सूचित की जाती है; जैसे—'वे **बीसों** चोर पकड़ लिए गए', '**तीनों** रोगी मर गए'। कभी कभी 'ओं' के द्वारा समुदाय का भी बोध होता है। श्रीयुत कामताप्रसाद गुरु ने अपने

'हिंदी-व्याकरण' में समुदायवाचक विशेषणों का वर्णन करते हुए लिखा है—

"पूर्णांकबोधक विशेषणों के आगे 'ओं' जोड़ने से समुदाय-वाचक विशेषण बनते हैं; जैसे—चार—चारों, दस—दसों, सोलह—सोलहों इत्यादि।"

संख्यावाचक शब्दों के इस प्रसंग को समाप्त करने से पहले उनके संबंध की कुछ विशेष बातों की ओर ध्यान आकृष्ट होता है। मिस्टर केलाग का कथन है कि अँगरेजी के Once, Twice और Thrice के पर्यायवाची एक एक शब्द खड़ी बोली में नहीं हैं। पर उनका यह कथन पूर्णत: सत्य नहीं है। जहाँ पर इन शब्दों का गुणवाचकों के समान प्रयोग होता है वहाँ खड़ी बोली में क्रमश: 'एकं', 'दूना' और 'तिया' से काम लिया जाता है। और जहाँ इन शब्दों का क्रियाविशेषणों के समान प्रयोग होता है वहाँ खड़ी बोली में Once और Twice के लिये एक एक शब्द नहीं हैं।

पर 'Once' के लिये संस्कृत के 'एकदा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। बैसवाड़ी के 'दाएँ' तथा 'दारी' (एकु दाएँ, एकु दारी = एक बार) में संस्कृत के 'एकदा' शब्द का आभास मिलता है। बैस-वाड़ी में तो 'दाएँ' और 'दारी' का सभी पूर्णांकबोधक शब्दों के साथ योग करके 'दुइ दाएँ', 'तीनि दाएँ', 'बीस दारी', 'पचास दारी' इत्यादि शब्द बना लिए जाते हैं, पर खड़ी बोली में इस प्रकार के शब्द नहीं बनते। ऐसे शब्दों को बनाने के लिये उसमें संस्कृत के 'वारं' (सं० 'एकवारं', 'द्विवारं', 'चतुर्वारं') प्रत्यय से आए हुए 'बार' शब्द का प्रयोग होता है; जैसे—'एक बार', 'दो बार', 'तीन बार' इत्यादि। 'बार' के योग से 'दो' और 'तीन' में कुछ विकार हो जाता है तथा 'बार' का 'बारा' रूप हो जाता है, और इस प्रकार 'दुबारा' और 'तिबारा' शब्द बन जाते हैं।

कभी कभी 'बार' के स्थान पर फारसी के 'दफा' या 'मर्तबा' शब्दों की सहायता से 'एक दफा', 'दो दफा', 'तीन मर्तबा', 'चार मर्तबा' इत्यादि शब्द बना लिए जाते हैं।

शब्दों की अनेक-रूपता का कारण

पूर्णांकबोधक संख्यावाचकों में अनेक शब्दों के दो दो रूप पाए जाते हैं; जैसे—चौंतीस, चौंतिस; पैंतीस पैंतिस; सड़सठ, सरसठ इत्यादि। ये रूप-भेद भिन्न भिन्न प्रांतों के उच्चारण के कारण हो गए हैं। उदाहरणार्थ हम देख सकते हैं कि पूर्वी हिंदी में ह्रस्व उच्चारण की ओर प्रवृत्ति अधिक है, अतः खड़ी बोली के दीर्घमात्रा-युक्त शब्दों का भी उच्चारण, युक्तप्रांत के पूर्वी भाग तथा बिहार के निवासी ह्रस्व के समान कर देते हैं। धीरे धीरे साहित्यिक भाषा में उन शब्दों के चल जाने से अब अनेक शब्दों के दो दो रूप हो गए हैं।

खड़ी बोली में संख्यावाचक तत्सम शब्द

संस्कृत के बहुत से संख्यावाचक तत्सम शब्दों का भी प्रयोग खड़ी बोली में बहुत अधिक होता है। पूर्णांकबोधकों में 'पञ्च', 'सप्त', 'अष्ट', 'द्वादश', षोडश', 'शत', 'सहस्र' और 'कोटि'; अपूर्णांकबोधकों में 'अर्ध'; क्रमवाचकों में 'प्रथम', 'द्वितीय', 'तृतीय', 'चतुर्थ', 'पञ्चम', 'सप्तम', 'दशम' और तिथियों के प्रायः सभी नाम; तथा आवृत्तिवाचकों में 'द्विगुण', 'त्रिगुण' और 'चतुर्गुण' आदि तत्सम शब्द साहित्यिक खड़ी बोली में प्रायः लिखे जाते हैं।

विदेशी प्रभाव

खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्दों की उत्पत्ति को देख चुकने पर विदित होता है कि विदेशी भाषाओं का प्रभाव खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्दों पर लगभग नहीं के ही बराबर पड़ा है; केवल फारसी के 'सिफर' तथा 'हज़ार' शब्द खड़ी बोली में आ गए हैं।

आगे के कोष्टकों में खड़ी बोली के पूर्णांकबोधक तथा अपूर्णांक-बोधक संख्यावाचक शब्दों के साथ साथ संस्कृत, शौरसेनी प्राकृत, अर्धमागधी प्राकृत तथा अपभ्रंश के शब्द दिए जाते हैं। हिंदी की प्रधान विभाषाओं के भी कुछ शब्द दिए जाते हैं जिनसे यह जानने में सहायता मिलेगी कि खड़ी बोली के रूप अपनी अन्य बहिनों के रूपों से कितनी कम भिन्नता रखते हैं। विभाषाओं के सब शब्द-रूप नहीं दिए गए हैं, क्योंकि अधिकांश रूप परस्पर समान ही पाए जाते हैं।

ख० बोली	संस्कृत	शौर० प्रा०	अर्धमा० प्रा०	अपभ्रंश	व्रज	कन्नौजी	राजस्थानी	मारवाड़ी	मेवाड़ी	अवधी	भोजपुरी	मागधी	मैथिली
सिफर, शून्य	शून्य	सुन्नओ		सुन्न	सुन्न	सुन्नु							
एक	एक	एक्क	एग, एक्क	एक्क		एकु				एकु	एगो	एक, एक	एको, एके एक, एक,
दो	द्वि	दो	दो	दो, बे	द्वै, द्वौ, दोऊ	दुइ		दोय		दुइ	दू, दुइ	दू	दू,दुई,दूइ,दुगो
तीन	त्रि	तिरिण	तिरिण	तिरिण		तिनि, तीन		तीनि		तीनि	तीनि		
चार	चतुर्	चत्तारि	चउरो, चत्तारि	चारि	चारि	चौं, चारि		च्यार, चियार	च्यार	चारि	चारि		चारि
पाँच	पञ्चन्	पंच	पंच	पंच									
छः	षष्	छ	छ	छ	छै	छै, छह	छौ, छक	छव्	छै	छ	छौ, छव	छो	छव, छौ
सात	सप्तन्	सत्त	सत्त	सत्त			सात	हात	शात, हात				
आठ	अष्टन्	अट्ठ	अट्ठ	अट्ठ									
नौ	नवन्	णअ	नव	नव, णव		नव	नौ, नउ		नो			नो	नो,नव
दस	दशन्	दस, दह	दस	दस			दह, दस		दश				
ग्यारह	एकादशन्	एआरह	एक्कारस, इक्कारस	एग्गारह			ग्यारा		ग्यारा		इगारह,इग्यारह		एगारह, गारह
बारह	द्वादशन्	बारह, वारह	दुवालस, बारस	बारह			बारा	बारा	बारा	बारा			
तेरह	त्रयोदशन्	तेरह	तेरस	तेरह			तेरा		तेरा				
चौदह	चतुर्दशन्	चउदह, चउद्दह	चोद्दस, चउद्दस	चउद्दह			चवदा		चवदा				
पंद्रह	पञ्चदशन्	पण्णरहो	पण्णरस	पण्णरह			पनरा		पनरा		पनरह	पनरह	पनर०
सोलह	षोडशन्	सोलह	सोलस	सोलह			सोला, होला	होलह	सोला, होला	सोरह	सोरह	सोरह	सोरह
सत्रह	सप्तदशन्	सत्तरह	सत्तरस	सत्तरह			सतरा, हतरा		शतरा, हतरा				
अट्ठारह	अष्टादशन्	अट्ठारह	अट्ठारस	अट्ठारह			अठारा, ठारा		अठारा	अठारह			
उन्नीस	ऊनविंशति, एकोनविंशति इ०	एकूनवीसइ इ०	एगूणवीस इ०	एगुणविंस, णवदह		उनईस	उगणीस	उगणीस	ओनइस	उनइस			उनइस
बीस	विंशति	वीस	वीस इ०	वीस			बीस	बोह	बीश, बी				
इक्कीस	एकविंशति	एक्कवीसा	एगवीस इ०	एकवीस		एकईस	इक्कीस, अक्कीस		अकीश	एकइस	एकइस		ऐकैस
बाईस	द्वाविंशति	बावीसा	बावीस	बावीस, बवीस			बाइस, बाई			बाइस	बाइस		बाइस
तेईस	त्रयोविंशति	तेवीसा	तेवीस	तेवीस, त्रेवीस			तेईस, तेई			तेइस	तेइस		तेइस
चौबीस	चतुर्विंशति	चौवीसा	चउवीस	चौवीस			चोईस, चोई		चोइश	चौबिस	चौबिस		चौबिस
पचीस	पञ्चविंशति	पंचवीसा, पणवीसा	पणवीस	पणवीस, पाणवीस			पच्चीस, पच्ची			पचीस	पचीस		
छब्बीस	षड्विंशति	छव्वीसा	छव्वीस	छव्वीस			छाईस, छाई		छाईश	छब्बिस	छब्बिस		छब्बिस
सत्ताईस	सप्तविंशति	सत्तवीसा	सत्तवीस	सत्तावीस			सत्ताईस, हत्ताईस			सत्ताइस	सत्ताइस		सत्तैस
अट्ठाईस	अष्टाविंशति	अट्ठावीसा	अट्ठावीस	अट्ठवीस			अट्ठाई, ठाई			अट्ठाइस			अठैस
उंतीस	ऊनत्रिंशत्	अउणत्तीसा	अउणत्तीस	उणतीस			गुणतीस, गुणती		गुणतीस	ओंतिस	ओंतिस		
तीस	त्रिंशत्	तीसा	तीस	तीस			तीस, तीह						

ख० बोली	संस्कृत	शौर० प्रा०	अर्धमा० प्रा०	अपभ्रंश	ब्रज	कन्नौजी	राजस्थानी	मारवाड़ी	मेवाड़ी	अवधी	भोजपुरी	मागधी	मैथिली
इकतीस	एकत्रिंशत्	एकतीसा	एक्कतीस	एकत्रिस			अगतीस, इकती		अगतीश	एकतिस	एकतिस		प्रकतिस
बत्तीस	द्वात्रिंशत्	बत्तीसा	बत्तीस	बात्रिस			बत्तीस, बत्ती			बत्तिस	बत्तिस		
तेंतीस	त्रयस्त्रिंशत्	तेत्तीसा	तेत्तीस	तेत्रिस			तैंतीस, तैंती			तेंतिस	तेंतिस		तेंतिस
चौंतिस	चतुस्त्रिंशत्	चोत्तीसा	चोत्तीस	चौत्रिस, चौतीस			चोतीस, चोती		चोतीश, चोती	चौंतिस	चौंतिस		
पैंतिस	पञ्चत्रिंशत्	पंचतीसा, पण्णतीसा	पण्णतीस	पण्णत्रिस, पाँत्रिस, पैंतिस, पैंतिस			पैंतीस, पैंती			पैंतिस	पैंतिस		
छत्तीस	षट्त्रिंशत्	छत्तीसा	छत्तीस	छत्रिस, षटत्रीस			छत्रीस, छत्ती			छत्तिस	छत्तिस		
सैंतिस	सप्तत्रिंशत्	सत्तातीसा	सत्ततीस	सत्ततीस			सैंतीस, सैंती			सैंतिस	सैंतिस		
अड़तीस	अष्टात्रिंशत्	अट्ठतीस	अट्ठत्तीस, अट्ठतीस	अट्ठत्रीस			अड़तीस, अड़ती			अड़तिस	अड़तिस		
उंतालिस	ऊनचत्वारिंशत	अउणचत्तालीसा	एगूणचत्तालीस	एगुणचालीस			गुणताळीस		गुणचालीश, गुणतालीस	ओंतालिस	ओंतालिस		उनचालिस
चालीस	चत्वारिंशत्	चत्तालीसा	चत्तालीस	चालीस			चाळीस, चाळी		चालीश	चालिस	चालिस		
इकतालीस	एकचत्वारिंशत्	एकचत्तालीसा	एक्कचत्तालीस,इगयाल	एकतालीस			इकताळीस, इकताळी		अगतालीश	एकतालिस	एकतालिस		प्रकतालिस
बयालीस	द्विचत्वारिंशत् द्वाचत्वारिंशत्	बायालीसा	बायालीस	बितालीस, बायालीस			बयाळीस, बयाळी		बियालीश	बयालिस	बयालिस		बेआलिस, ब्यालिस
तेंतालीस	त्रिचत्वारिंशत्, त्रयश्चत्वारिंशत्	तेचत्तालीसा	तेयालीस	त्रयालीस			तयाळीस, तयाळी		तियालीश	तैंतालिस	तैंतालिस		तैंतालिस
चौवालीस	चतुश्चत्वारिंशत्	चउच्चत्तालीसा	चउयालीस,चोयालीस	चोयालीस			चम्माळीस, चम्माळी		चमालीश,चमाली, चंवालीस	चवालिस	चवालिस		चवालिस
पैंतालीस	पञ्चचत्वारिंशत्	पंचचत्तालीसा	पणयालीस, पणयाल	पणतालिस,पोंतालीस			पैंताळीस			पैंतालिस	पैंतालिस		
छियालीस	षट्चत्वारिंशत्	छच्चत्तालीसा	छायालीस	छैहैतालीस			छियाळीस			छियालिस	छियालिस		
सैंतालीस	सप्तचत्वारिंशत्	सत्तचत्तालीसा	सत्तचालीस,सायालीस	सततालीस			सैंताळीस			सैंतालिस	सैंतालिस		
अड़तालीस	अष्टाचत्वारिंशत्	अट्ठचत्तालीसा	अट्ठचत्तालीस,अढयाल	अट्ठतालीस			अड़ताळीस			अड़तालिस	अड़तालिस		
उनचास	ऊनपञ्चाशत्	ऊणपंचासा	एगूणपण्णास,अउणपण्ण	उगुणपचास			गुणचाळीस, गुणचास			ओंचास	ओंचास		
पचास	पञ्चाशत्	पण्णासा	पण्णास	पँचास			पचास, पच्चा						
इक्यावन	एकपञ्चाशत्	एक्कावण्णं	एक्कावण्ण	एकावन			इक्कावन		अक्यांवन				प्रकौन
बावन	द्वापञ्चाशत्	बावण्णं	बावण्ण	बावन									बौन
तिरपन	त्रिपञ्चाशत्	तेवण्ण	तेवण्ण	त्रेपन			तरेपन, तेपन, तिप्पन						तेरपन
चौवन	चतुःपञ्चाशत्	चउप्पण्णा	चउवण्ण	चोपन			चोपन, चोवन		चोपन	चौवन, चउवन	चौवन, चउवन		
पचपन	पञ्चपञ्चाशत्	पंचावण्णा	पणपण्ण	पचवन			पचवन, पचावन		पचाँवन		पंचावन,पचपन		
छप्पन	षट्पञ्चाशत्	छप्पण्णा	छप्पण्ण	छप्पन									
सत्तावन	सप्तपञ्चाशत्	सत्तावण्णा	सत्तावण्ण	सत्तावन			सत्यावन	हत्तावन					
अट्ठावन	अष्टापञ्चाशत्	अट्ठवण्णं	आट्ठवण्ण	अट्ठावन									
उनसठ	ऊनषष्टि	एगूणसट्ठ	एगूणसट्ठ, अउणट्ठि	उगुणसट्ठ			गुणसठ		गुणशट				
साठ	षष्टि	सट्ठि	सट्ठि	सट्ठि				हाठ	शाट	साठि	साठि		
इकसठ	एकषष्टि	एकसट्ठि	इगसट्ठि, एगट्ठि	एकसट्ठि			इकसट		अगशट	एकसठि	एकसठि		

ख० बोली	संस्कृत	शौर० प्रा०	अर्धमा० प्रा०	अपभ्रंश	व्रज	कन्नौजी	राजस्थानी	मारवाड़ी	मेवाड़ी	अवधी	भोजपुरी	मागधी	मैथिली
बासठ	द्वाषष्टि	बासट्ठि	बासट्ठि, बावट्ठि	बासट्ठि			बासट		बाशट	बासठि	बासठि		
तिरसठ	त्रय:षष्टि, त्रिषष्टि	तेसट्ठि	तेसट्ठि, तेवट्ठि	त्रसट्ठि			तरेसट		त्रेशट	तिरसठि	तिरसठि		तिरेसठ
चौंसठ	चतुष्षष्टि	चोसट्ठि	चोसट्ठि, चोंवट्ठि	चौसठि, चासट्ठि			चोसट		चोशट	चौंसठि	चौंसठि		चौसठ
पैंसठ	पञ्चषष्टि	पंचसट्ठि	पणसट्ठि, पण्णट्ठि	पाँसट्ठि, पणसट्ठि			पैंसट		पैंशट	पैंसठि	पैंस ठ		
छियासठ	षट्षष्टि	छासट्ठि	छावट्ठि	छासट्ठि			छयाँछट		छाशट	छाँछठि	छाँछठि		छियासठ
सड़सठ	सप्तषष्टि	सत्तसट्ठि	सत्तसट्ठि	सत्तसट्ठि			सड़सट		शतशट	सरसठि	सरसठि		
अड़सठ	अष्टषष्टि	अट्ठसट्ठि	अढसट्ठि, अट्ठसट्ठि	अट्ठसट्ठि			अड़सट	हड़सट	अड़शट	अरसठि	अरसठि		
उनहत्तर	ऊनसप्तति	एगूणसत्तरि	एगूणसत्तरि, अउणत्तरि	उगुणसत्तरि			छुणंतर		गुणंतर	ओन्हत्तरि	ओन्हत्तरि		
सत्तर	सप्तति	सत्तरि	सत्तरि	सत्तरि			सत्तर		शत्तर	सत्तरि	सत्तरि		
इकहत्तर	एकसप्तति	एक्कसत्तरि	एक्कसत्तरि	इकोतरै			इकत्तर, इकंतर		अगोतर, अकोतर	एखत्तरि	इखत्तरि	एकंतर	
बहत्तर	द्वासप्तति, द्विसप्तति	बासत्तरि	बावत्तरि	बावत्तरि, बहतरि			ववत्तर, भोत्तर		बोतर	बहत्तरि	बहत्तरि		
तिहत्तर	त्रयस्सप्तति	तेसत्तरि	तेवत्तरि	त्रेत्तरि			तेत्तर, तेवत्तर		तेतर	तिहत्तरि	तिहत्तरि		
चौहत्तर	चतुस्सप्तति	चोसत्तरि	चोवत्तरि	चोवत्तरि			चौवत्तर, छोत्तर		चोतर	चौहत्तरि	चौहत्तरि	चौहंतर	
पचहत्तर	पञ्चसप्तति	पंचसत्तरि	पंचहत्तरि, पाण्णत्तरि	पंचत्तरि			पिचंतर, पचेतर		पच्योतर	पछत्तरि	पछत्तरि		
छिहत्तर	षट्सप्तति	छासत्तरि	छावत्तरि	छावत्तरि			छियोतर, छियंतर		छियोतर	छियत्तरि	छियत्तरि		
सतहत्तर	सप्तसप्तति	सत्तसत्तरि	सत्तहत्तरि	सत्तत्तरि			सतंतर, हठंतर		शत्योतर	सतत्तरि	सतत्तरि		
अठहत्तर	अष्टसप्तति	अट्ठसत्तरि	अट्ठहत्तरि	अठोतरि			हठंतर		अठ्योतर	अठत्तरि	अठत्तरि		
उनासी	ऊनाशीति	एगुणासी	एगूणासीइ	उगुणासी			गुण्यासी		गुणियाशी	ओनासी	ओनासी		
अस्सी	अशीति	असीइ	असीइ	असी			अस्सी		अशी				
इक्यासी	एकाशीति	एक्कासीई	एक्कासीइ	इकयासी			इक्यासी		अकाशी	एक्यासी			
बयासी	द्व्यशीति	बासीइ	बासीइ	बायासी			बँयासी		बियाशी				बेआसी, बेण्सी
तिरासी	त्र्यशीति	तेयासीई, त्रेयासी	तेसीइ, तेयासी	त्रेयासी			त्रेंयासी		तिँयाशी				
चौरासी	चतुरशीति	चोरासीइ, चोरासी	चोरासी, चउरासीइ	चौरासी			चोरासी		चोराशी				चौरासी
पचासी	पञ्चाशीति	पंचासीइ	पंचासीइ	पँचासी			पिच्यासी		पच्याशी				
छियासी	षडशीति	छासीइ	छलसीइ	छयासी			छिँयासी						
सत्तासी	सप्ताशीति	सत्तासीइ	सत्तासीइ	सत्तासी			सित्यासी		शत्याशी				
अट्ठासी	अष्टाशीति	अट्ठासीइ	अट्ठासीइ	अट्ठासी			इठ्यासी, इठासी		अठ्याशी				
नवासी	नवाशीति	नवासीइ	एगूणणउइ	नवासी			निवासी		नव्याशी			नोआसी	
नब्बे	नवति	नउए	नउइ	णउइ			निव्वै		नेउवै				
इक्यानबे	एकनवति	एक्काणव्वई	एक्कणउइ	एक्कानवे			इक्याणमैं		अक्याणूँ				
बानबे	द्वानति, द्विनवति	बाणउइ	बाणउइ	बानवे			बाँणमैं		बाँणूँ				
तिरानबे	त्रयोनवति	तेणउइ	तेणउइ	त्राणु			तिराणमैं		तराणूँ				
चौरानबे	चतुर्नवति	चउणउइ	चउणउइ	चोरानवे			चैराणमैं		चोराणूँ		चौरांवे		चौरानवे
पंचानबे	पञ्चनवति	पंचाणउइ	पंचाणउइ	पंचानवे			पिच्याणमैं		पच्याणूँ				

ख० बोली	संस्कृत	शौर० प्रा०	अर्धमा० प्रा०	अपभ्रंश	व्रज	कन्नौजी	राजस्थानी	मारवाड़ी	मेवाड़ी	अवधी	भोजपुरी	मागधी	मैथिली
छियानबे	षण्णवति	छण्णउइ	छण्णउइ	छाँणवे			छियाणमें		छन्यूँ, छियाणूँ				
सत्तानबे	सप्तनवति	सत्तणउइ	सत्तणउइ	सात्तानवे			सत्याणमें		शत्याणूँ				
अट्ठानबे	अष्टानवति	अट्ठाणउइ	अट्ठाणउइ	अट्ठानवे			इठ्याणमें		अठ्याणूँ				
निन्नानबे	नवनवति	नवाणव्वई	नवणउइ	नवाणवे			निन्याणमें		नन्याणूँ				
सौ	शत	सत, सयं, साअ	सय	सउ		सै, सव	सो	सो, सैकड़ो	शो, शेकड़ो				स०
हजार, सहस्	सहस्र	सहस्स	सहस्स	सहस्स			हजार		हजार				
	अयुत												
लाख	लक्ष, लक्षा	लक्खं	लक्खं	लक्ख			लाख		लाख				
	प्रयुत												
करोड़	कोटि	कोडि	कोडि	कोटि			किरोड़		करोड़, कोड़				
	अर्बुद	अब्ब											
अरब ←	अब्ज												
	खर्व												
खरब ←	महापद्म												
	शंकु												
नील	जलधि												
	अंत्य												
पद्म	मध्य												
	परार्ध												
शंख													
पाव, पाओ, चौथाई	पादः	पाओ		पाउ	पाओ, चौथाई		पाव, चौथाई		पाव	पउआ	पौ, पौवा, पउवा, पाव		पौ, पा, पौआ
तिहाई	तृतीय०	तइअ०			तिहाई		तिआई				तिसरी	तेहाई	तेहाई, तिहाई, तिरभाग, तिहै, तेरवरी, तेसरी
आधा	अर्धः	अड्ढओ	अड्ढ, अद्ध	अद्ध	आध, आधौ		आधो		आदो		आध, खाँड़ा, अधिया	अधिया, गँठ	अद्धा, आंधे, अध, आध
पौन	पादोनः	पाओणी, पाओन		पौन	पौन्		पूँण	पौना	पूँण		पौना, पवन्ने		पौना, पौने
सवा	सपादः	सवाओ		सवाउ	सवा, समा, सम		सवा		शवा	सवाई	सावा, सैवाई, सवाइया	सावा, सवाइ	सावा, सवाइ
डेढ़	अर्धद्वितीयः	अड्ढदुइयो	दिवड्ढ	डेढ	डेढ, डौढ़ा, डेओढ़ा, डेउढ़ा		ड्योड		डोड़				डेढ़ा, डेर
अढाई, ढाई	अर्धतृतीयः	अड्ढाइज्जा	अउढाइज्ज	अढाई	अढाई, ढामा, ढाम		अढ़ूढाई, ढाई		अड़ाई		आढ़ा, अढइया	अढइया, अढाइ, अढ़ै, अढ़िया	अढ़ाइ, अढ़ै, अराइ, अढ़िया
साढ़े०	सार्धकः०	सड्ढओ		साढे	साढ़े		साढ़ूढा	साढ़ा, साढ़ोक	साड़ा →				सारेह

(१४) विविध विषय

समालोचना

धर्मज्योति—पृष्ठ-संख्या ४११, लेखक श्री जगतनारायण बी० एस-सी०, मूल्य १।)।

थियासोफी और हिंदू धर्म के विषय में यह मौलिक ग्रंथ है। भाषा इतनी सरल है और विषय का वर्णन इतनी अच्छी तरह से किया गया है कि हर कोई साधारण बुद्धि का भी इसे सरलता से समझ सकता है। और अनुवादों में यह सरलता नहीं पाई जाती। हिंदू धर्म के गुप्त रहस्यों को बताने का भी प्रयत्न किया गया है। भाषा में कहीं कहीं प्रांतीयता आ गई है। थियासोफी का हिंदी में प्रचार करने में, उसका पूर्ण दिग्दर्शन कराने में, और उसमें रुचि उत्पन्न करने में यह पुस्तक बहुत महत्त्व की है। स्त्रियों और बालकों को भी समझने में कोई कठिनाई न पड़ेगी।

पंड्या बैजनाथ

सूचीपत्र—कलकत्ता की श्री बड़ा बाजार कुमार-सभा ने अपने पुस्तकालय की पुस्तकों की सूची ४३० पृष्ठों में प्रकाशित की है। इसमें पुस्तकों का वर्गीकरण—संख्या (नंबर) देने के नियम को छोड़कर—पाश्चात्य देशों में प्रचलित Melvil Dewey के Decimal classification के अनुसार किया गया है। पुस्तकों के वर्गीकरण के लिये यह प्रणाली बहुत ही प्रसिद्ध और सुविधाजनक है। भारत-

वर्ष के अनेक पुस्तकालयों में इसी प्रणाली का, थोड़े-बहुत परिवर्त्तनों के साथ, अनुसरण किया जाता है। किंतु मेरे विचार से भारतवर्ष में इस प्रणाली को प्रचलित करने के पूर्व उसके भारतीयकरण की आवश्यकता है। इस प्रणाली के अनुसार रखे गए अनेक वर्ग हमारी संस्कृति और विचार-धारा के विरुद्ध पड़ते हैं। प्रस्तुत सूची में ही तत्त्व-ज्ञानांतर्गत एक वर्ग मन और शरीर का रखा गया है। Dewey के अनुसार इस वर्ग के अंतर्गत मस्तिष्क-विज्ञान (Mental physiology), मस्तिष्क-विकार (Mental derangements), गुह्य-विद्या (Occultism), सम्मोहन-विद्या (Hypnotism) आदि परिगणित होते हैं। वर्त्तमान सूची में इसी के अंतर्गत पातंजल योग-दर्शन एवं योग-संबंधी आधुनिक पुस्तकें भी रखी गई हैं। यह सत्य है कि योग-दर्शन में अधिकतर मन और शरीर के संबंध में ही विचार किया गया है, किंतु Dewey तथा भारतीय विचार-धारा के अनुसार उसे प्राच्य दर्शन-समूह के अंतर्गत रखना ही उचित है। इस सूची में कुछ पुस्तकों का वर्गीकरण तथा विषयों का शीर्षक बहुत ही भ्रमोत्पादक रखा गया है; यथा पृष्ठ ३११ में एक शीर्षक है—विनोदात्मक काव्य (सर्व-साधारण)। साधारणतः पाठक इस शीर्षक के अंतर्गत ऐसे विनोदात्मक काव्य-ग्रंथों को ढूँढ़ेंगे जो विनोदात्मक काव्य के विशेष विभागों के अंतर्गत न आ सकते हों, किंतु पुस्तकें रखी गई हैं—'विनोद-रत्नाकर', 'बीरबल की हाजिरजवाबी' और 'चतुराई', 'विदूषक', 'गुदगुदी', 'चुहल', 'दिल की आग', 'हँसी के चुटकुले' आदि कहानी-विषयक। साधारणतः लोग छंदोबद्ध रचनाओं को ही काव्य समझते हैं, किंतु उक्त सब पुस्तकें इसके विपरीत गद्य की हैं। इस विभाग के बाद ही 'विनोदपूर्ण आख्यायिका' का विभाग रखा गया है जिसमें 'मेरी हजामत', 'हँसी का गोलगप्पा', 'पढ़ो और हँसो',

'हास्य कौतुक', 'मूर्खराज', 'लतखोरीलाल', 'लंबी दाढ़ी' आदि पुस्तकें रखी गई हैं। ये सभी पुस्तकें भी कहानी की हैं। आख्यायिका का अर्थ भी कहानी ही है। क्या इन्हीं पुस्तकों के साथ वे पुस्तकें नहीं रखी जा सकती थीं जो विनोदपूर्ण काव्य (सर्व-साधारण) के अंतर्गत रखी गई हैं ? इसी प्रकार पृष्ठ १४८ में काव्य (सर्व-साधारण) के अंतर्गत मिश्रबंधु-कृत 'हिंदी-नवरत्न' रखा गया है, किंतु इसी सूची के अनुसार उसे रखना चाहिए पृष्ठ २९८ में गद्य-काव्य (आलोचनात्मक) के अंतर्गत, जहाँ अन्य आलोचनात्मक ग्रंथ रखे गए हैं। इस सूची में कुछ व्यर्थ का विस्तार भी हो गया है। Dewey की प्रणाली के अनुसार जब किसी लेखक की, एक ही विषय की, अनेक पुस्तकें होती हैं तो उस विषय के अंतर्गत प्रथम लेखक का नाम देकर फिर उसी के नीचे अक्षरानुक्रम से पुस्तकों के नाम आदि दिए जाते हैं; किंतु इस सूची में ऐसा न कर प्रत्येक पुस्तक के साथ लेखक का नाम दिया गया है जिससे सूची व्यर्थ ही विस्तृत हो गई है। यदि उतना स्थान लेना ही अभीष्ट था तो उतने में अन्य प्रकार की सूचनाओं—जैसे प्रकाशक का पता, पुस्तक की प्रकाशन-तिथि या पुस्तक का आकार तथा उसकी पृष्ठ-संख्या आदि—के संबंध में लिख सकते थे। इसी प्रकार इस सूची में अन्य अनेक छोटी-मोटी त्रुटियाँ भी रह गई हैं। किंतु इन सब त्रुटियों के होते हुए भी हमें पुस्तकालय के उत्साही कार्य-कर्त्ताओं की प्रशंसा करनी चाहिए, जिन्होंने हिंदी में इस प्रकार की सूची सर्वप्रथम प्रस्तुत की है। किसी भी नवीन कार्य के आरंभ-कर्त्ता को कुछ कठिनाइयों का स्वभावत: सामना करना पड़ता है, किंतु इससे कार्य के महत्त्व को किसी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वर्गीकरण का ज्ञान प्राप्त करना स्वयं ही एक शिक्षण है (To learn to classify is in itself an education :—Alex

Bain)। इस कार्य में अनुभवी लोगों से भी भूलों का हो जाना संभव है। आशा है, भविष्य में पुस्तकालय के कार्यकर्त्तागण इस कार्य को अधिक सावधानी से संपन्न करेंगे।

अखौरी गंगाप्रसाद सिंह

मानसोपचार शास्त्र एवं पद्धति—योग द्वारा रोगोपचार की बात हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से सुनी जाती है, और अब भी यत्र-तत्र उसके विश्वसनीय प्रमाण मिलते हैं। मानसोपचार के अन्य अनेक रूप भी इस देश में प्रचलित हैं। परंतु आधुनिक वैज्ञानिक रीति से उसका विस्तृत विवेचन हिंदी के लिये अवश्य ही नया है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'मानसोपचार शास्त्र एवं पद्धति' के लेखक डा० गोपाल भास्कर गनपुले का उत्साह प्रशंसनीय है। उन्होंने अपने विषय के प्रतिपादन में बड़े परिश्रम से काम लिया है और उसे सर्वसाधारण के लिये सुगम बनाने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है। परंतु सैद्धांतिक कठिनाइयाँ न रहने पर भी उसकी क्रियात्मक सत्यता के समर्थन का अधिकार अभ्यस्त और विशेषज्ञ जनों को ही है। इसमें संशय नहीं कि इस शास्त्र का उद्देश्य महान् है और इसकी क्रियात्मक सफलता से मानव-जाति का बड़ा कल्याण हो सकता है।

यद्यपि इसे असावधानी नहीं कहा जा सकता, किंतु यदि कहीं कहीं अँगरेजी के पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद तथा भाषा के परिमार्जन पर थोड़ा और ध्यान दिया जाता तो अधिक अच्छा होता। आशा है, जनता ग्रंथ को अच्छे सुधरे और निखरे हुए रूप में पाएगी और उससे लाभ उठाकर ग्रंथकार का परिश्रम सफल करेगी।

पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव

श्रीएकनाथ-चरित्र—लेखक—पं० लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर, बी० ए०; अनुवादक—श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे।

श्री एकनाथ विक्रम की १६वीं शताब्दि के प्रसिद्ध महाराष्ट्र संत और कवि हैं। आज भी उनकी पुण्यस्मृति में सर्वत्र 'एकनाथ-षष्ठी' मनाई जाती है। उन्हीं लोक-प्रिय संत का यह चरित्र है। 'चरित्रकार को सांप्रदायिक अर्थात् भावुक, काव्य-मर्मज्ञ अर्थात् रसिक और इतिहासज्ञ अर्थात् चिकित्सक होना चाहिए' (भूमिका, पृ० ५)। पांगारकरजी ऐसे ही आदर्श चरित्रकार हैं। वे स्वयं 'हरि-भक्ति-परायण' हैं। उनकी लेखनी में भावुकता भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। संत के सुकुमार चरित्र को उन्होंने निर्दय होकर नहीं परखा है। इसी से यह पुस्तक भक्तों के भी बड़े प्यार की वस्तु हो गई है। भाषा और शैली साहित्यिक है। अत्यंत संतोष का विषय है कि भावुकता और सरसता के प्रवाह में स्थल-काल का पूर्वापर संबंध कहीं भी बहकने नहीं पाया है। अनुवाद की भाषा भी खूब चलती और सरल है। इतना कह देना पर्याप्त होगा कि अनुवाद अनुवाद सा नहीं जँचता।

'एकनाथ-चरित्र' संग्रहणीय वस्तु है। हिंदी में ऐसे ग्रंथों का अभी बड़ा अभाव है। २३५ पृष्ठों की इस सुंदर पुस्तक को केवल ॥) में जनता के हाथ समर्पण करने के लिये गोरखपुर का गीता प्रेस हम सबके धन्यवाद का पात्र है।

नारायण माधव सप्रे

योगेश्वर कृष्ण—लेखक—प्रो० चमूपति, एम० ए०; प्रकाशक—गुरुकुल, काँगड़ी; मूल्य—२।।); पृष्ठ-संख्या—लगभग चार सौ।

'योगेश्वर कृष्ण' सूर्यकुमारी-ग्रंथावली (काँगड़ी) का प्रथम ग्रंथ है। यह श्रीकृष्ण का महाभारत से संकलित पुराणानुमोदित ऐतिहासिक जीवन-चरित है। भाषा सरल और सजीव है। कर्मयोगी कृष्ण के सामाजिक और राजनीतिक जीवन की कोई प्रधान घटना छूटने नहीं पाई है। थोड़े में समस्त महाभारत का सार खींचकर इस प्रकार रख दिया गया है कि इसे बालभारत भी कह सकते हैं। उपयुक्त उद्धरणों और पाद-टिप्पणियों से ग्रंथ में एक विशेषता आ गई है। 'महाभारत का युद्ध-प्रकार और युधिष्ठिर की राज्य-प्रणाली' के समान कुछ प्रकरण यद्यपि कृष्ण-चरित से स्पष्टतया संबद्ध नहीं देख पड़ते तथापि उनसे ग्रंथ की उपादेयता बढ़ गई है। प्राचीन साहित्य और संस्कृति का विद्यार्थी उनसे बड़ा लाभ उठा सकता है। एक शब्द में ग्रंथ सुंदर और संग्रहणीय है।

साधारण पाठक को इस ग्रंथ में एक अभाव खटकता है। न तो इसमें योगेश्वर का वह चमत्कारपूर्ण जीवन अंकित है जो बच्चों और भोले भक्तों के हृदय को द्रवित कर सके और न यहाँ कृष्ण का वह सरस और सलोना चित्र ही है जो भावुकों को आह्लादित कर सके। महाभारत से संकलित 'ऐतिहासिक जीवन-चरित' में यह अभाव रह जाना आश्चर्य की बात नहीं है। स्पष्ट ही इस चरित के नायक का संबंध न गीता से है और न भागवत से—वह महाभारत के राजनीतिक क्षेत्र का एक नेता मात्र है। 'योगेश्वर' का यह अर्थ कुछ संकुचित तथा अपूर्ण सा है। इतना होने पर भी यह ग्रंथ अनूठा है—हिंदी-वाङ्मय का एक रत्न है। हिंदी में ऐसे जीवनचरितों की बड़ी आवश्यकता है। इस ग्रंथ ने एक बड़े अभाव की पूर्त्ति की है।

पद्मनारायण आचार्य

———

भ्रम-संशोधन—नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संदर्भ), भाग १५, संख्या २, पृष्ठ १५७-१६८ में श्री पृथ्वीराज चौहान, बूँदी का लिखा "इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग रणथंभौर का संक्षिप्त वर्णन" शीर्षक एक लेख छपा है। यही लेख बाबू हरिचरण सिंह चौहान के नाम से नागरीप्रचारिणी पत्रिका (पुराना संदर्भ), भाग २३, संख्या १२ (जून १९१९, पृष्ठ २६५-२७१) में छप चुका है। पहले और पिछले लेख में विशेष अंतर यही है कि पिछले लेख में पहले लेख का पहला पैराग्राफ छोड़ दिया गया है। नागरीप्रचारिणी पत्रिका में इस प्रकार की साहित्यिक चोरी का यह पहला उदाहरण है। आशा है, श्री पृथ्वीराज चौहान इसके संबंध में तथ्य की बात लिखकर इस विषय को स्पष्ट करेंगे।

संपादक ना० प्र० प०

---

(१५) कबीर का जीवन-वृत्त

[लेखक—डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, काशी]

नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४ की चौथी संख्या में श्रीमान् पं० चंद्रबली पांडेय का 'कबीर का जीवन-वृत्त' शीर्षक लेख पढ़कर बड़ा आनंद हुआ। पं० चंद्रबली सदृश विद्वान् को कई बातों में अपने से सहमत देख किसे आनंद न होगा। विशेष हर्ष मुझे इस बात का है कि मेरे जिस मत को बड़े बड़े विद्वान् मानने को तैयार नहीं उसके मुझे एक जबर्दस्त समर्थक मिल गए हैं। पांडेयजी भी मानते हैं कि निम्न-लिखित पंक्तियों के आधार पर कबीर का मुसलमान कुल में उत्पन्न होना सिद्ध हो जाता है—

जाके ईद बकरीद गऊ रे बध करहिं मानियहिं शेख शहीद पीरा।
जाके बापि ऐसी करी, पूत ऐसी धरी तिहुँ रे लोक परसिध कबीरा॥

कुछ विद्वान्, जिनसे मैंने इस संबंध में परामर्श किया था, मुझसे इस बात में सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि कबीर को मुसलमान का पोष्य पुत्र मात्र मानने में भी ये पंक्तियाँ कोई अड़चन नहीं डालतीं। पर मेरा उत्तर है कि इन पंक्तियों के रचयिताओं का अभिप्राय है कि भक्ति के लिये ऊँचे कुल में जन्म आवश्यक नहीं है। इससे सिद्ध है कि कबीर मुसलमान के पोष्य पुत्र नहीं, औरस पुत्र थे। इस मामले में पांडेयजी ने मेरा पक्ष ग्रहण किया है, इसलिये मुझे हर्ष होना स्वाभाविक ही है।

परंतु पांडेयजी के लेख में एक जरा सी गलती रह गई है। उन्होंने इन पंक्तियों को रैदास की बतलाया है, जो **आदि ग्रंथ** में दी हुई हैं। पर रैदास के वचन का वस्तुतः यह पाठ नहीं है।

उसका हवाला भी उनके लेख में गलत है। किंतु इसका दोष पांडेयजी के मत्थे मढ़ने का अन्याय मैं न करूँगा।

ये पंक्तियाँ थोड़े से पाठ-भेद[1] से सिखों के **आदि ग्रंथ** में, रैदास के और रजबदास के **सर्वांगी** में पीपाजी के नाम से दी गई हैं। **आदि ग्रंथ** में यह पाठ है—

जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहिँ मानीअहिँ सेख सहीद पीरा ॥
जाकै बापि वैसी करी पूत ऐसी सरी तिहुँ रे लोक परसिध कबीरा ॥

और सर्वांगी में यह—

ज़ाके ईद बकरीद, नित गऊ रे बध करै मानिए सेख सहीद पीरा।
बापि वैसी करी पूत ऐसो धरी नाँव नवखंड परसिध कबीरा॥

इन दोनों के आधार पर तथा कुछ संगति का ध्यान रखकर मैंने निर्गुण संप्रदाय पर अपने अँगरेजी निबंध में, जिसे पांडेयजी ने अपना 'वृत्त' लिखने के पहले माँगकर पढ़ लिया था, ऊपर का पाठ निर्धारित किया था। इससे आदि ग्रंथ के पाठ में विशेष परिवर्तन यह हुआ कि 'सरी' के स्थान पर 'धरी' हो गया और 'वैसी' के स्थान पर 'ऐसी' तथा गलती से 'सेख सहीद' में 'स' के स्थान पर 'श'। टाइपिस्ट की कृपा और मेरी असावधानी के कारण पाद-टिप्पणी का वह अंश भी छपने से रह गया था जिसमें मैंने पाठांतरों का निर्देश किया था। इसी से पांडेयजी धोखे में आ गए। अन्यथा उनकी सी निपुणता के व्यक्ति से ऐसी गलती होना संभव नहीं था। पाद-टिप्पणी में पांडेयजी ने आदि ग्रंथ की जो पृष्ठ-संख्या दी है, वह भी गलत है और मेरे टाइपिस्ट की कृपा का फल है। पृष्ठ-संख्या ६६८ न होकर ६९८ होनी

---

(१) दोनों पदों में पाठ-भेद के साथ भी यही दो पंक्तियाँ समान हैं। पदों के शेषांश बिल्कुल भिन्न हैं।

चाहिए। मुझे खेद है कि मेरे हिंदी रूपांतर में भी ये गलतियाँ रह गई हैं।

इस लेख में पांडेयजी को एक बहुत महत्त्वपूर्ण सूचना देने का अवसर मिला है। वह सूचना है यह कि गुरु गोरखनाथ ने 'हिंदू और मुसलमानों की एकता की ओर भी ध्यान दिया था'[1]। यद्यपि पांडेयजी ने इसके कोई प्रमाण नहीं दिए हैं, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि यह बात निराधार है। मुझे खेद है कि मैं यथा-समय पांडेयजी को इस बात का प्रमुख प्रमाण न दे सका, क्योंकि मेरे कागज-पत्र उस समय ऐसी गड़बड़ हालत में थे कि उनमें से उन्हें ढूँढ़ निकालना कठिन था, और पांडेयजी अधिक समय तक ठहरना नहीं चाहते थे। प्रमाण नागरीप्रचारिणी पत्रिका में यथा-स्थान छपने के लिये भेज दिए गए हैं। परंतु पाठकों के लाभार्थ यहाँ भी दे दिए जाते हैं। गढ़वाल में प्रचलित झाड़-फूँक के मंत्रों में संतों और सिद्धों के संबंध में जो उल्लेख हैं उनका मैंने संग्रह किया है। पं० चंद्रबली के आग्रह से मैंने इस छोटे से संग्रह को उन्हें भी सुनाया था। इस संग्रह में गोरखनाथजी के संबंध में लिखा है—"हिंदू मुसलमान बालगुदाई दोऊ सहरथ लिये लगाई"[2] जिससे पता चलता है कि गुरु गोरखनाथ के चेलों में हिंदू मुसलमान दोनों सम्मिलित थे। मुसलमानों की जिबह आदि की प्रथा को ध्यान में रख तथा उन्हें तलवार के बल पर राज्य-प्रसार करते देख गोरखनाथ ने किसी काजी से कहा था—

> मुहम्मद मुहम्मद न कर काजी मुहम्मद का विषम विचारं।
> मुहम्मद हाथि करद जे होती लोहे गढ़ी न सारं॥
> सबदै मारै सबद जिलावै ऐसा महमद पीरं।
> ऐसे भरमि न भूलौ काजी सो बल नहीं सरीरं॥

---

(१) ना० प्र० प०, भाग १४, अंक ४, पृ० ४०१।

(२) वही, पृ० ४४१।

ये पद्य गोरखनाथ की सबदी के हैं। इनसे पता चलता है कि वे मुसलमानों के हृदय में अहिंसा की भावना भरना चाहते थे जिससे उन्हें अपने हिंदू पड़ोसियों के साथ मेल-जोल से रहने की आवश्यकता मालूम पड़ती। संभवतः बाबा रतन हाजी उनके मुसलमान चेलों में से एक थे, जिन्होंने अपने ग्रंथ **काफिर बोध** में ऐक्य के पक्ष में बहुत कुछ कहा है।

पृ० ५२२ की एक टिप्पणी में पांडेयजी ने बड़ा अनुग्रह करके मेरा स्मरण किया है, और नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ११, अंक ४ में छपे हुए मेरे लेख 'हिंदी-काव्य में योग-प्रवाह' में से एक अवतरण दिया है जिसमें मैंने कहा है—"निर्गुण शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है। भक्ति-धारा का जल पहले योग के ही फाट पर बहा था", इस पर अपना अभिमत देते हुए पांडेयजी ने सत्कामना की है—"**भक्ति एवं योग के विवाद में न पड़**, हमें तो यही कहना है कि यदि उक्त पंडितजी इस विषय की मीमांसा में तल्लीन रहेंगे तो एक नवीन तथ्य का उद्घाटन ही नहीं प्रतिपादन भी हो जायगा।" पांडेयजी की सत्कामना के लिये मैं कोटिशः धन्यवाद देता हूँ। परंतु मुझे इस बात का पता नहीं चला कि पांडेयजी 'भक्ति एवं योग का विवाद' कहाँ से ले आए हैं। जान पड़ता है कि उक्त लेख में मेरे इस कथन की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया—"गोरखनाथ का हठयोग केवल ईश्वर-प्रणिधान में बाहरी सहायक मात्र है। न कबीर ने ही वास्तव में योग का खंडन किया है और न गोरखनाथ ने हो केवल बाहरी क्रियाओं को प्रधानता दी है।" यदि उन्होंने इन वाक्यों की ओर ध्यान दिया होता तो उन्हें 'भक्ति एवं योग के विवाद में न पड़' कहने की आवश्यकता न होती—चाहे यह कहकर वे स्वयं इस झगड़े में न पड़ना चाहते हों चाहे मुझे उसमें न पड़ने का आदेश देते हों।

विद्वानों की आलोचना से कई लाभ होते हैं। जहाँ पांडेय-जी के 'वृत्त' से मुझे पता लगा है कि मेरा कौन सा मत पुष्ट है, वहाँ मेरे एक मत के 'अग्रिम खंडन' द्वारा यह बतलाकर भी वे मेरे धन्यवाद के भाजन हुए हैं कि कहाँ मुझे अधिक विस्तार के साथ लिखने की आवश्यकता है।

कबीर के जन्म-स्थान के संबंध में विवेचन करते हुए पांडेयजी ने लिखा है—"कुछ लोगों की धारणा है कि कबीर का जन्म-स्थान काशी नहीं, संभवतः मगहर था।" उनमें से एक मैं भी हूँ। पांडेय-जी का संकेत विशेषकर मेरे ही निबंध की ओर है। मगहर के पक्ष में प्रमाण उन्होंने उसी में के दिए हैं। इस मत का प्रधान प्रमाण तो 'आदि ग्रंथ' में दिया हुआ कबीर का वह पद है जिसमें उन्होंने कहा है—'पहिले दरसन मगहर पायो फुनि कासी बसे आई'। इससे स्पष्ट है कि कबीर को भगवद्दर्शन मगहर में हुआ था और उसके बाद वे काशी में आ बसे थे। इससे यह भी संभव है कि कबीर का जन्म मगहर में हुआ हो। काशी में कबीर का जन्म हुआ था, इस बात को तो यह पद अवश्य संदेह में डाल देता है। परंतु पांडेयजी का मत है कि ऐसा समझना 'सावधानी' से काम न लेना है। क्योंकि मगहर में बैठे बैठे वे 'कासी बसे आई' कैसे कह सकते हैं—'आई' की जगह 'जाई' होना चाहिए था। उनकी समझ में, इस पंक्ति में, मगहर और काशी का स्थान बदल गया है। इसका पाठ होना चाहिए—'पहिले दरसन कासी पायो फुनि मग-हर बसे आई'। 'प्रकृत पद्य' उनके लिये वह है जिसका अनुवाद मेकालिफ ने इस प्रकार किया है—"I first saw you at Kasi and then came to reside at Magahar" यह पंक्ति मेरी है जिसमें मैंने मेकालिफ का अभिप्राय मात्र दिया था। मेकालिफ के शब्द ये हैं— I first obtained a sight of thee in

Benares and afterwards I went to live at Magahar. (Sikh Religion, vol. 6, पृ० १३०)

इस संबंध में सबसे पहले ध्यान रखने योग्य बात यह है कि 'गुरु ग्रंथ साहब' के भिन्न भिन्न संस्करणों में पाठ-भेद नहीं हो सकता। उसके पद्यों का मंत्रतुल्य आदर होता है। उसकी लिखाई छपाई में अत्यंत सावधानी रखी जाती है। कोई मात्रा टूट जाय, छूट जाय, बढ़ जाय सो तो शायद संभव हो भी परंतु ऐसी गलती उसमें संभव नहीं जिससें अक्षरों और अर्थ का इतना उलट-पुलट हो जाय और वह भी प्रचलित प्रवाह के विरुद्ध। मैंने तरन-तारन के हिंदी संस्करण के इस पाठ को कुछ गुरुमुखी ग्रंथों से मिलवाया है[1]। परंतु पाठ हर हालत में एक ही मिला है। इस पाठ में मेकालिफ के अनुवाद के अंतर का कारण दूसरा पाठ नहीं है बल्कि उनके मस्तिष्क पर अधिकार कर बैठा हुआ प्रचलित प्रवाद है। मैं नहीं कहता कि **आदि ग्रंथ** के अतिरिक्त और जगह भी इसका ठीक यही अनुवाद मिलेगा। परंतु वस्तुत: यह पद दूसरी जगह अभी तक मिला नहीं है। अतएव दूसरे पाठ का प्रश्न ही नहीं उठता। मेकालिफ का गलत अनुवाद उसके अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकता। उन्होंने **आदि ग्रंथ** का अनुवाद किया है, और चीजों का नहीं। अगर इस पद का पाठ गलत है तो वह 'आदि ग्रंथ'कार की गलती है। परंतु प्रचलित प्रवाद को छोड़कर कोई बात ऐसी नहीं है जो इस पाठ के विरोध में खड़ी हो।

'आई-जाई' का झगड़ा कोई विशेष अड़चन खड़ी नहीं करता। कबीर को काशी छोड़कर आए हुए अभी थोड़े ही दिन हुए हैं, मन उनका काशी ही में है। काशी के उन्हें अत्यंत प्रिय होने के

---

(१) एक ही हवाला यहाँ देते हैं, देखो राय साहब गुलाबसिंह ऐंड संस का पूजावाला बड़ा संस्करण, पृ० ६६६।

कारण मगहर से अभी उनके मन का समन्वय न हो पाया था। जितना अधिक वे इस बात का ऐलान करते हैं कि काशी का मुक्ति-मार्ग में कुछ विशेष महत्त्व नहीं, उतनी ही अधिक दृढ़ता से वह उनके हृदय में बैठी हुई दिखाई देती है। इसी से अनजान में उनके मुँह से ऐसी ही बातें निकलती हैं मानो अभी वे काशी ही में हों। अगर पाठ-परिवर्तन ही मानना अभीष्ट हो तो 'जाई' का 'आई' बन जाना क्यों न माना जाय ? यद्यपि मैं स्वयं यह नहीं मानता।

पांडेयजी ने यह भी दलील पेश की है—'जहाँ तक हमें इतिहास का पता है, उस समय मगहर में मुसलमानों का निवास न था।' मुझे इतिहास का बहुत कम पता है, परंतु जाननेवाले बतलाते हैं कि उस समय गोरखपुर के आसपास का शासन नवाब बिजलीखाँ पठान के हाथ में था। गाजी मियाँ सालार जंग तो बहुत पहले बहराइच तक आ पहुँचे थे। फिर उस समय मगहर में मुसलमानों के बसने में कौन सी असंभवता है ?

इन सब बातों को देखते हुए यदि कोई यह माने कि कबीर के जन्म-स्थान के लिये काशी का दावा संदेहास्पद है तो अनुचित नहीं। यह बात ठीक है कि 'न जाने कितनी बार कबीर ने अपने को काशी का जुलाहा कहा है' पर इससे यह कहाँ निकलता है कि वे पैदा भी वहीं हुए थे। आजकल अपने आपको बनारसी कहने-वालों की संख्या बेढब बढ़ रही है पर यह इस बात का प्रमाण थोड़े ही है कि वे जनमे भी बनारस ही में हैं।

मेरा तो विचार है कि कबीर का मगहर ही में जन्म लेना अधिक संभव है। कबीर के शिष्य धर्मदास भी यही कहते जान पड़ते हैं। उनका कहना है—

हंस उबारन सतगुरु जग में आइया।
प्रगट भए कासी में दास कहाइया॥

बाह्मन औ सन्यासी, तो हाली कीन्हिया।
कासी से मगहर आये कोई नहिं चीन्हिया॥
मगहर गाँव गोरखपुर जग में आइया।
हिंदू तुरक प्रमोधि के पंथ चलाइया॥

—शब्दावली, पृ० ३, ४, शब्द ४।

जग में उनका आना जीवों के उद्धार के लिये हुआ था और हुआ था गोरखपुर के पास मगहर गाँव में, काशी में तो वे प्रकट हुए थे। उससे पहले उनकी प्रसिद्धि नहीं हुई थी। उनकी प्रसिद्धि का कारण हुआ स्वामी रामानंद का चेताना (काशी में हम प्रगट भए हैं रामानंद चेताए) अर्थात् उनका कबीर के वास्तव स्वरूप को पहचानना जिससे उन्होंने उन्हें वेहिचक वैष्णव-मंडली में सम्मिलित कर लिया और वे कबीरदास कहे जाने लगे। परंतु और ब्राह्मणों तथा संन्यासियों ने उन्हें नहीं पहचाना और उनकी हँसी में तत्पर रहे। इसलिये वे काशी से मगहर चले आए। 'कोई नहिं चीन्हिया' का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि वे काशी से मगहर ही क्यों आए, इसका कारण किसी को न मालूम हुआ; मगहर वे इसलिये आए कि वहीं उनका जन्म हुआ था। इस अवसर पर मगहर ही को क्यों उन्होंने पसंद किया इसका यह काफी अच्छा समाधान है। पांडेयजी ने भी अपने लेख में इस पद का एक अंश उद्धृत किया है परंतु उसके 'रहस्योद्‌घाटन' की ओर उन्होंने वैसी प्रवृत्ति नहीं दिखाई है जैसी उनके कैंड़े के विद्वान् से आशा की जा सकती है।

लगे हाथों पांडेयजी की एक उलझन को सुलझा देना तथा उनकी एक गलती का निराकरण कर देना भी जरूरी जान पड़ता है। परंपरागत जनश्रुति है, अपने शव के लिये हिंदू मुसलमानों में खून-खराबी की संभावना देखकर कबीर की आत्मा ने आकाश-

वाणी की "लड़ो मत, पहले कफन उठाकर देखो कि तुम लड़ किस चीज के लिये रहे हो"; कफन उठाकर देखा गया तो शव की जगह फूल पाए गए जिनको हिंदू मुसलमान दोनों ने बाँट लिया। इस कहानी का उल्लेख कर पांडेयजी ने बाबू श्यामसुंदरदासजी-संपादित **कबीर-ग्रंथावली** की भूमिका में से इसके संबंध का यह अवतरण दिया है—"यह कहानी भी विश्वास करने योग्य नहीं है परंतु इसका मूल-भाव अमूल्य है" और इस पर टिप्पणी की है—"हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि कबीर की उस (?) आत्मा ने इस प्रकार की आकाशवाणी कर, लड़ो मत, कफन उठाकर देखो, कौन सा अमूल्य भाव भर दिया है।" भाव तो बिलकुल स्पष्ट है पर यही समझ में नहीं आता कि पांडेयजी की समझ में वह क्यों नहीं आता। पांडेयजी ने अगर इस प्रसंग को ध्यान से पढ़ा होता और 'पर हिंदू-मुसलिम-ऐक्य के प्रयासी कबीर की आत्मा यह बात कब सहन कर सकती थी' इस कथन पर दृष्टि डाली होती तो पांडेयजी को कहानी के अमूल्य मूल-भाव के समझने में देर न लगती। लेखक का अभिप्राय स्पष्ट है। उनका अभिप्राय है कि यह चमत्कारी कहानी विशेष रूप से यह दिखलाने के लिये गढ़ी गई है कि कबीर की आत्मा ने मृत्यु के बाद भी हिंदू-मुसलिम-विरोध के निराकरण का प्रयत्न नहीं छोड़ा। हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की आवश्यकता का अमूल्य मूल्य आज भी अनुभूत हो रहा है।

पृ० ५०२ में पांडेयजी ने 'जिंद' शब्द पर विचार करते हुए लिखा है कि धर्मदास की शब्दावली (बेलवेडियर प्रेस) के संपादक महोदय ने जिंद का अर्थ 'बंधोगढ़-निवासी बनिये' माना है, जो सर्वथा अमान्य है। परंतु वस्तुतः यह उक्त संपादक महोदय के ऊपर अन्याय है। उन्होंने ऐसा कुछ नहीं माना है। 'बंधोगढ़ के

बनिये' तो 'बांधों के बानी' का अर्थ है जो इसी प्रसंग में आया है। परंतु हड़बड़ी के कारण पांडेयजी ने पुस्तक को अच्छी तरह पढ़ा नहीं, नहीं तो उन्हें देख पड़ता कि उक्त संपादक ने 'जिंद' के माने 'जिन' दिए हैं, 'बांधोगढ़ के बनिये' नहीं। 'जिंद' शब्द पर एक छोटा सा निबंध ही लिखा जा सकता है पर उसके लिये मेरे पास इस समय अवसर नहीं है।

पांडेयजी ने डा० त्रिपाठी के इस मत का व्यर्थ ही विरोध किया है कि कबीर के क्रांतिकारी सिद्धांतों का प्रचार-कार्य सिकंदर लोदी सरीखे कट्टर और अत्याचारी सुलतान के राज्य में संभव नहीं था। पांडेयजी का कथन है कि कबीर ने पहले पहल इस्लाम का विरोध नहीं किया, इसलिये वे चैन से हिंदुओं की श्रुति-स्मृति, अवतार आदि की निंदा करते रहे; किंतु अंत में ज्योंही इस्लाम का विरोध करने लगे त्योंही उन्हें उसका मजा चखना पड़ा और अंत में वे मगहर भाग गए। इसमें पांडेयजी ने स्पष्ट ही यह बात मानी है कि कबीर ने अपने पद्यों की किसी विशेष क्रम से रचना की, जिसे मानने के लिये कोई भी आधार नहीं है। वस्तुत: जैसा डा० त्रिपाठी कहते हैं, कबीर के ऊपर ऐसी क्रूर दृष्टि किसी मुसलमानी शासक की पड़ी ही नहीं जैसी सिकंदर लोदी के शासन-काल में पड़नी संभव थी। मगहर भी वे किसी मुसलमान शासक के अत्याचार से भागकर नहीं गए। सुलतान के अत्याचार से मगहर ही में उनकी रक्षा कैसे हो सकती थी? वहाँ नवाब बिजलीखाँ की संरक्षकता भी उनकी चमड़ी को साबित न रख सकती। वह खुद बिजलीखाँ की चमड़ी को अंदेशे में डाल देती। असल में वे मगहर इसलिये गए कि काशी में उनका रहना हिंदुओं ने दूभर कर दिया था। शाहे-वक्त कोई ऐसा उदार व्यक्ति था जिससे जान पड़ता है कि मुसलमानों को भी कबीर को सजा दिला

सकने की आशा न थी, फिर हिंदू उससे क्या आशा रखते। इसलिये उन्होंने मजाक का आसरा लिया। जहाँ कबीर दिखाई दिए वहीं "अरर कबीर" के साथ बुरी बुरी गालियों की झड़ी लगने लगी। काशी में कबीर की खूब जोर की हँसी हुई थी, इसका उल्लेख कबीर-पंथियों ने कई पदों में किया है। 'निर्गुण बानी' नामक एक संग्रह में दो-तीन बार 'काशी में हाँसी कीन्हीं' का उल्लेख है। धर्मदास की 'शब्दावली' से मगहर के संबंध में जो पद ऊपर उद्धृत किया गया है, उसमें भी स्पष्ट लिखा है—'ब्राह्मण औ सन्यासी तो हाँसी कीन्हिया'। उक्त संग्रह के दो-एक पदों के अनुसार इस हँसी का अवसर भी कबीर ही ने प्रस्तुत कर दिया था। श्रद्धालुओं की श्रद्धा से तंग आकर वे एक बार वेश्या को बगल में लेकर काशी की गलियों में घूमे थे। परंतु उसका जो घोर परिणाम हुआ उसके लिये वे तैयार नहीं थे। सभ्य लोगों ने सभ्य मजाक किया होगा, असभ्यों ने भद्दा।

यह भी नहीं समझना चाहिए कि कबीर प्रकारांतर से हिंदुओं में इस्लाम का प्रचार कर रहे थे, इस्लाम का विरोध उन्हें अभीष्ट ही नहीं था। उनकी फटकार हिंदू-मुसलमान दोनों के लिये थी; दोनों के अंधविश्वासों तथा कर्मकांड इत्यादि की उन्होंने समान रूप से निंदा की है। हिंदुओं के प्रति अधिक और मुसलमानों के प्रति कम विरोधात्मक उक्तियों का कारण यह है कि कबीर की दार्शनिक प्रवृत्ति हिंदुओं के सर्वथा मेल में थी, इसलिये वे अधिकतर उन्हीं की संगति में रहा करते थे और स्वभावतः उन्हीं को अधिक समझाते-फटकारते थे, मुसलमानों से बहस-मुबाहसा करने का उन्हें मौका ही कम मिलता था।

अतएव निषेधात्मक होने पर भी डाक्टर त्रिपाठी का उक्त मत अत्यंत मूल्यवान् है और कबीर के समय को निश्चित करने में बड़ी सहायता देता है।

पांडेयजी का अभिमत, कि 'ना-नारद इक जुलहे सों हारा... सैकरा भरई' में "सैकरा" कबीर की शतायु की ओर संकेत करता है, विचारपूर्ण है और "सैकरा भरई" यदि जुलाही पेशे की किसी क्रिया की ही ओर संकेत नहीं करता तो वह कबीर की जीवनी के एक तथ्य के निश्चय में अत्यंत सहायक होगा। हाँ, यह कहना कि—

बारह बरस बालपन खोयो, बीस बरस कछू तप न कियौ।
तीस बरस के राम न सुमिर्‍यौ, फिरि पछितान्यौ बिरध भयौ॥

कबीर-ग्रंथावली, पृ० १७०, २४३; ३०६, १९१

इसमें सामान्य कथन न करके कबीर ने अपने ही बाल्यकाल, यौवन, बुढ़ापे इत्यादि का विस्तार बताया है, अतिमात्र है।

---

(१६) भारतवर्ष की सामाजिक स्थिति

कालिदास के ग्रंथों के आधार पर

[लेखक—श्री भगवतशरण उपाध्याय, लखनऊ]

भारतवर्ष में हिंदू-समाज की व्यवस्था प्रायः सदा वही थी जो आज है। यह व्यवस्था बहुत प्राचीन है और इसका उल्लेख किसी न किसी रूप में हमें मानव-जाति की प्रथम पुस्तक 'ऋग्वेद' में भी मिलता है।

समाज

समाज को चार वर्णों में विभक्त करके उसमें अक्षय शक्ति एवं अद्भुत कर्मण्यता भरी गई थी। कवि कालिदास ने भी अपने ग्रंथों में उन परंपरागत प्राचीन वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—का वर्णन किया है। प्रथम तीन वर्णों को 'द्विज' कहते थे क्योंकि वे विविध धार्मिक एवं सामाजिक क्रियाओं और संस्कारों से पूत होकर एक प्रकार से द्वितीय जन्म धारण करते थे जिसका उन्हें, विशेष कर चतुर्थ वर्ण शूद्रों पर, एक खास फायदा था। समाज के इन चारों अंगों के अपने अपने विशिष्ट वर्ण-कर्म थे जिनका विधान स्मृतियाँ करती थीं। राजा का यह एक प्रधान कर्तव्य था कि वह अपनी प्रजा को उचित मार्ग पर ले चले, उन्हें धर्मच्युत न होने दे। ऐसा न हो कि कहीं कोई अपने वर्ण की सीमा का उल्लंघन कर जाय। इस कारण राजा को वर्णाश्रम-धर्म का रक्षक कहते थे (वर्णाश्रमाणां रक्षिता)[1]। वह स्वयं वर्णाश्रमधर्म की स्थिति की मर्यादा का पोषक (स्थितेरभेत्ता) था और अपनी प्रजा को उसी पथ पर आरूढ़ करता था। इस धर्ममय रथ

---

(१) असावत्रभवान्वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव।

—अभिज्ञान-शाकुन्तल, अंक ५।

वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः।—रघुवंश १४, ८५।

का राजा सारथी था जो अपनी प्रजा को उसमें बैठाकर इस भाँति रथ को हाँकता था कि रथों की पुरानी लीकों पर ही उसके चक्र चलते थे, प्राचीन धर्मवृत्ति से वह अपनी प्रजा को रेखा मात्र भी नहीं टलने देता था[1]। इस प्रकार, कालिदास के उल्लेखानुसार, उस समय के भारतीय शास्त्रानुमोदित नीति और वर्णधर्म का अक्षरशः पालन करते थे। यद्यपि, जैसा हम आगे बतलाएँगे, कालिदास के समय के स्वच्छंद, प्रसन्न एवं कलाप्रिय और सुरुचिपूर्ण भारतीय समाज में उच्छृंखलता और कर्त्तव्यच्युति के उदाहरण सर्वथा अज्ञात नहीं थे तथापि जन-साधारण की आचारप्रियता कुछ वैसी ही थी जैसी ऊपर बतलाई गई है। वर्णाश्रमी साधारणतः आचार-पूत थे और वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा राजा उत्साहपूर्वक करता था। वर्णसीमा का अतिक्रमण करनेवाला बड़े कड़े दंड का अधिकारी था और स्वयं कालिदास, जो वर्णाश्रम-धर्म के बड़े पृष्ठपोषक हैं जैसा उनके इस पक्ष के बारंबार के वर्णनों से विदित होता है, राजा राम द्वारा 'द्विजेतरतपस्विसुत'[2] के वध के अवसर पर बड़ी आनंद-ध्वनि करते हैं क्योंकि उनका विश्वास था कि द्विजसेवाधिकारी शूद्र तपश्चर्याकर्म करके वर्णधर्म का उल्लंघन करता है, उस सामाजिक व्यवस्था को अतिशय क्षति पहुँचाता है जिसकी रक्षा रघुवंश के राजा प्राणपण से करते थे।

आश्रमों[3] की संख्या भी चार थी जिनमें द्विजों का जीवन-काल विभक्त था। ये आश्रम इस प्रकार थे—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। वर्णधर्म की रक्षा की भाँति ही आश्रम-धर्म के

---

(१) रेखामात्रमपि क्षुण्णादा मनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥—रघु० १, १७।

(२) वही, १५, ७६।

(३) वही, १, ८; १४, ८५। अभि० शाकु०, ५।

कल्याणार्थ भी राजा सर्वथा जागरूक रहता था। यह धर्म उसकी स्वेच्छा का नहीं प्रत्युत स्मृतियों के विधान से युक्त कर्तव्य का था। जब जब वर्णाश्रम-धर्म की किसी प्रकार क्षति होती है तब तब कवि कालिदास की लेखनी क्रोधपूर्ण होकर आग उगलने लगती है। समाज में उसकी व्यवस्था के विरुद्ध वे स्वेच्छाचारिता सहन नहीं कर सकते। सचमुच ही सामाजिक व्यस्वथा का प्राण आचार है।

गो-सेवा

सेवाधर्म को बड़ी महत्ता दी जाती थी। गो-ब्राह्मण समाज में पूज्य थे। दिलीप द्वारा की गई गो-सेवा[1] में कवि ने अध्यात्म और आदर्श भर दिया है। दिलीप गो का एक अकिंचन सेवक है और उसकी गो-सेवा सेवा के क्षेत्र में एक अद्वितीय और अपूर्व आदर्श उपस्थित करती है। सेवक की नैतिक अवस्था सेवा के आदर्श नियमों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थी। चाहे वह राजा ही क्यों न हो उसे अपने सारे अनुयायियों को छोड़कर[2] एक साधारण अनुचर की भाँति सेवा करनी पड़ेगी। यह एक प्रकार का व्रत[3] था जिसके आचरण के निमित्त मनुष्य को अकेला अग्रसर होना पड़ता था। जो स्वयं सेवक है उसके अनुचर कैसे? वह तो अपने ही वीर्य से रक्षित है (स्ववीर्यगुप्ता हि मनोप्रसूतिः)। इसी नीति के अनुसार दिलीप ने अपने अनुचरों को छोड़ दिया। गो के पीछे पीछे वह छाया[4] की भाँति वन में विचरने लगा (विचचार)। उसने मुनि की भाँति सिर के बालों को लताप्रतानों द्वारा बाँध लिया

(१) रघु०, २।

(२) न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः।—वही, २, ४।

(३) व्रताय तेनानुचरेण धेनोः।—वही।

(४) स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबंधधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥
—वही, २, ६।

(लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैः)[१] । जब गाय चलती थी दिलीप भी चलता था, जब वह खड़ी होती थी वह भी खड़ा होता था, जब वह बैठती थी वह भी बैठता था, जब वह जल पीती थी वह भी जलपान करता था[२]—इस प्रकार उसका कार्यक्रम गाय की छाया के अनुरूप गाय का ही एक प्रकार से था। वह अपने हृदय के रक्षक और अभिभावक[३] की भाँति उसकी रक्षा के अर्थ आवश्यकता के अनुसार अपने प्राणों तक की बाजी लगा सकता था[४] ।

वर्णाश्रम-धर्म को महत्त्व देनेवाले समाज में विवाह-क्रिया का उचित रीति से संपादन अनिवार्य ही था। कालिदास के ग्रंथों से हमें तीन प्रकार के विवाहों का ज्ञान होता है। वे इस प्रकार हैं—(१) स्वयंवर[५], (२) प्राजापत्य[६] और (३) गांधर्व[७] । स्वयंवर में कन्या अपने पति का वरण स्वयं करती थी। इसका प्रमाण हमें रघुवंश महाकाव्य के छठे सर्ग में वर्णित इंदुमती के स्वयंवर से प्राप्त होता है। प्राजापत्य का उदाहरण कुमारसंभव के अंतर्गत शिव और पार्वती के विवाह में मिलता है और गांधर्व विवाह का संकेत अभिज्ञान-शाकुंतल के दुष्यंत और शकुंतला के प्रेम-संबंध में किया गया है। अब हम नीचे प्रत्येक का अलग अलग वर्णन करते हैं—

विवाह

---

(१) लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।
—रघुवंश, २, ८ ।

(२) वही, २, ६ ।

(३) विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ।—वही, २, ५६ ।

(४) वही, २, ५५ और ५६ ।

(५) वही, ६ ।

(६) कुमारसंभव, ७ ।

(७) अभिज्ञान-शाकुन्तल, ३ ।

कन्या का पिता अथवा भाई स्वयंवर में स्वयं आने के लिये अथवा अपने युवराज को उसमें भाग लेने के लिये भेजने के अर्थ राजाओं को निमंत्रण भेज देता था[१]। राजा लोग अपनी सेनाओं और शिविरों[२] को साथ लेकर स्वयंवर के लिये प्रस्थान करते थे। कन्या का पिता अपने नगर के द्वार पर इनका स्वागत करता था[३]। फिर इन्हें राजप्रासाद में ले जाता था जिसका द्वार पूर्ण कुंभ[४] जैसी सुंदर मंगल-वस्तुओं से सुशोभित रहता था। दूर दूर के अनेक राजा वधू-विजय के निमित्त परस्पर ईर्ष्यालु हृदय से वहाँ उपस्थित होते थे[५]। प्रातःकाल वंदीजन आकर इन राजाओं को इनकी वंशप्रशस्ति[६] सुना सुनाकर जगाते थे। तदनंतर राजा लोग स्वयंवर के अखाड़े में सुंदर मंचों[७] पर जाकर बैठते थे। ये मंच कुछ ऊँचाई पर बड़े दामों के बने हुए होते थे जिन तक सुंदर सोपानमार्ग[८] से पहुँचते थे। इन मंचासनों में रत्न लगे हुए होते थे। ये ऊपर से रंग-बिरंगे आच्छादनों से ढके हुए होते थे[९]। इन्हीं मंचों पर बहुमूल्य आभूषण धारण किए हुए राजा लोग विराजमान होते थे[१०]। तदु-

स्वयंवर

---

(१) अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः ।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥
—रघु०, ५, ३९ ।

(२) तस्योपकार्यारचितोपचारा ।—वही, ५, ४१ ।

(३) तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः ।—वही, ५, ६१ ।

(४) प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् ।—वही, ५,६३ ।

(५) तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकम् ।—वही, ५, ६४ ।

(६) वही, ५, ७५ ।

(७) स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।—वही, ६, १ ।

(८) सोपानपथेन मञ्चम् ।—वही, ६, ३ ।

(९) परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान् रत्नवदासनं सः ।—वही, ६, ४ ।

(१०) वही, ६, ६ ।

परांत भाट पहुँचकर उपस्थित राजाओं के—सूर्य और चंद्र वंश के—कीर्ति-गान[1] करते थे। इसी समय मंगलार्थ दिगंत-व्यापी शंख और तूर्य की ध्वनि[2] की जाती थी। फिर विवाहवेशधारिणी पतिंवरा पालकी में चढ़कर परिजनों द्वारा अनुसृत मंचों के मध्य राजमार्ग पर उपस्थित होती थी[3]। उसकी कमनीयता सबके नेत्रों को अपनी ओर खींच लेती थी। राजा भी उसको अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये विविध शृंगार-चेष्टाएँ करते थे (शृंगारचेष्टा विविधा बभूवुः)। तब कन्या की प्रिय सखी, जो उपस्थित राजाओं की वंश-कीर्ति से पूर्ण अवगत होती थी, उसे एक एक नृपति के सम्मुख ले जाकर उसके रूप-गुण एवं कुल का बखान करती हुई[4] उस राजमार्ग पर आगे बढ़ती थी। यह सखी बड़ी चतुर होती थी। इसकी चातुरी पतिंवरा के हृदय पर उचितानुचित प्रभाव डाल सकती थी। प्रायः अपने स्वामी का वरण तो कन्या अपने हृदय में बहुत पहले ही कर लेती होगी परंतु खुले स्वयंवर में राजाओं और दर्शकों के सम्मुख उसके वरण को व्यवहारौचित्य मिलना आवश्यक था। "रात्रि के समय संचारिणी दीपशिखा की भाँति पतिंवरा जिस राजा के सामने से निकल जाती थी वह राजमार्ग पर बनी अट्टालिका की भाँति विवर्ण हो जाता था"[5]। फिर वह उस राजा के सम्मुख जाकर रुकती थी जो कुल, कांति

---

(१) रघु०, ६, ८।

(२) वही, ६, ६।

(३) मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा॥
—वही, ६, १०।

(४) वही, ६, २०।

(५) संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥
—वही, ६, ६७।

और यौवन में उसके समान होता था और जिसमें अन्य गुणों के अतिरिक्त विनयगुण विशेष होता था। इस प्रकार के पति का वह वरण करती थी। कांचन रत्न को प्राप्त करता था[1]। सुंदर स्रज को वह स्त्र्योचित लज्जापूर्वक अपने वृणीत पति के गले में छोड़ देती थी[2]। इस प्रकार नागरिकों के हर्षोत्कर्ष के बीच स्वयंवर की विधि समाप्त हो जाती थी। तदुपरांत वर-वधू तोरण, पताका और अन्य मंगल सामग्रियों द्वारा सुसज्जित[3] राजमार्ग से राजप्रासाद की ओर प्रस्थान करते थे। नागरिकों और अन्य लोगों द्वारा एक बड़ा और सुंदर जलूस तैयार हो जाता था जिसे देखने के लिये राजमार्ग पर खुलनेवाली प्रासादों की खिड़कियाँ स्त्रियों के मुखमंडलों से भर जाती थीं[4]। तब वर गज से उतरकर मंगल-वस्तुओं से सुशोभित राजप्रासाद में प्रवेश करता था और महिलाओं के गीतामृत से उसके कर्ण धन्य हो जाते थे[5]। वहाँ वह एक महार्ह

---

(१) कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥
—रघु०, ६, ७६ ।

(२) दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव ।
—वही, ६, ८० ।

तया स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्षःस्थललम्बया सः ।
अमंस्त कण्ठार्पितबाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः ॥
—वही, ६, ८४ ।

(३) वही, ७, १० ।
तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥
—वही, ७, ४ ।

(४) वही, ७, ११ ।

(५) इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
—वही, ७, १६ ।

सिंहासन पर विठाया जाता था और उसे सरल मधुपर्क-मिश्रित अर्घ्य प्रदान करते थे[१]। इस प्रकार उसकी द्वार-पूजा की जाती थी। फिर वह दुकूलवस्त्र का जोड़ा (धोती और अँगोछा) धारण करता था। फिर उसे विनीत अवरोधरक्षक विवाह-क्रिया के संपादनार्थ वधू के समीप ले जाते थे[२]। तब पूजा के अनंतर पुरोहित अग्नि में होम करके और अग्नि को ही साक्षी बनाकर वर और वधू को विवाह-सूत्र में बाँध दिया करता था[३]। तब वर वधू का हस्त ग्रहण[४] करके वधू के साथ अग्नि की परिक्रमा[५] करता था। फिर याजक गुरु द्वारा बताई गई वधू अग्नि में लाज-विसर्जन-क्रिया करती थी[६]। शमी वृक्ष के पल्लवों और लाज के होम से उत्पन्न धुएँ की सुगंध[७] अपूर्व होती थी। इसके बाद पति और पत्नी स्वर्णसिंहासन पर बैठते थे और तब स्नातक राजा और पतिपुत्रवाली महिलाएँ विशिष्टता के क्रम से उनके ऊपर भीगे अक्षत फेंकती थीं[८]। अब अन्य उपस्थित राजाओं की ओर ध्यान दिया जाता था और उनकी उचित पूजा-भेट करके उनको विदा किया जाता था[९]। फिर विवाह की शेष विधियों को पूर्णतया समाप्त करके वर नववधू के साथ अनंत

---

(१) महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरलमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥
—रघु०, ७, १९।

(२) दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।—वही, ७, १९

(३) वही, ७, २० ।

(४) हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः ।—वही, ७, २१ ।

(५) प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोः ।—वही, ७, २४ ।

(६) लाजविसर्गमग्नौ ।—वही, ७, २५ ।

(७) वही, ७, २६ ।

(८) वही, ७, २८ ।

(९) वही, ७, २९ ।

धन लेकर अपने देश को प्रस्थान करता था[1]। यह स्वयंवर विवाह का चित्रण है। एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि स्वयं-वर की प्रथा केवल राजाओं के संबंध में ही प्राप्त होती है। संभव है, यह केवल उन्हीं में प्रचलित रही हो; क्योंकि जन-साधारण में इस प्रथा के प्रचलन का उल्लेख नहीं मिलता और साधारणतया उनमें इस विधि का संपादन है भी बड़ा कठिन। राजाओं की तो संख्या भी थोड़ी थी और इस रीति से कन्या के कुल आदि की प्रतिष्ठा रखी जा सकती थी। जन-साधारण में स्वयंवर की प्रथा तभी संभव थी जब स्वयंवर के अखाड़े में किसी प्रतिज्ञा-विशेष का संपादन किया जाता जिसका उल्लेख रामायण और महाभारत में मिलता है।

प्राजापत्य विवाह का उदाहरण हमें कुमारसंभव के सातवें सर्ग में, शिव-पार्वती के विवाह में, मिलता है। शिव-पार्वती का विवाह हिंदुओं में आदर्श समझा जाता है। विवाह में होनेवाली सारी क्रियाओं का वर्णन नीचे दिया जाता है। वर्णन है तो शिव और पार्वती के विवाह का, पर उससे सारी विधियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। वह इस प्रकार है—

प्राजापत्य विवाह

पार्वती के पिता हिमालय ने जामित्रि लग्न में शुक्ल पक्ष की एक शुभ तिथि को उसके विवाहार्थ अपने परिजनों के साथ तैया-रियाँ कीं[2]। इसके निमित्त राजमार्ग चीनांशुक की बनी पताकाओं और सुंदर चमकीले सुनहरे तोरणों से सुसज्जित किया गया[3]।

---

(१) रघु०, ७, ३२।

(२) अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम्।
समेतबन्धुर्हिमवान्सुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत्॥
—कुमारसंभव, ७, १।

(३) सन्तानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवावभासे॥
—वही, ७, २।

मित्रों और संबंधियों ने कन्या का आलिंगन कर उसे आभूषण भेंट किए[1] । जब मैत्र मुहूर्त में उत्तरा फाल्गुनी और चंद्रमा का योग हुआ तब स्त्रियों ने वधू का उबटन आदि से विवाह प्रतिकर्म आरंभ किया[2] । इन स्त्रियों का पतिपुत्रवती होना अनिवार्य था[3] । वधू को दूर्वा से सज्जित करके कौशेय परिधान कराया गया। फिर उसने हाथों में एक बाण धारण किया[4] जो शायद क्षत्रिय वधू का परिचायक था। तब उसके शरीर में चंदन का तेल लगाकर उस पर लोध्रचूर्ण छिड़का गया और तदनंतर सुमधुर कालेयक लगाया गया। तब दूसरी धोती धारण कराकर स्त्रियाँ उसे चतुष्क स्नानार्थ (स्नानागार) की ओर ले गईं[5] । चतुष्क की मरकतशिला के तल पर मुक्ताओं के प्रयोग से चित्र-रचना की गई थी। वहाँ स्वर्णकलशों द्वारा वधू के अंगों पर स्त्रियों ने जल की धारा छोड़कर उसे स्नान कराया[6] । फिर उस 'मंगलस्नानविशुद्धगात्री' को शुक्लवसना करके पतिव्रताओं ने वितानयुक्त वेदी के मध्य बने एक सुंदर आसन पर बिठाया। इस वेदी के स्तंभ, जो वितान को उठाए हुए थे, स्वर्ण के बने हुए थे और

---

(१) अङ्काद्ययावङ्कमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुङ्क्त ।
सम्बन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाम ॥
—कुमार०, ७, ५ ।

(२) मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु ।
तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः ॥
—वही, ७, ६ ।

(३) वही ।

(४) वही, ७, ७ ।

(५) तां लोध्रकल्केन हृताङ्गतैलामाश्यानकालेयकृताङ्गरागाम् ।
वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः ॥
—वही, ७, ९ ।

(६) वही, ७, १० ।

रत्नों से सुशोभित थे[1] । वहाँ वह पूर्व की ओर मुख करके बैठी[2] । फिर उसके शरीर को धूप से सुखाकर बालों को पुष्पों से सजाया और सुगंधित दूर्वास्रज से उसका सिर परिवेष्टित किया गया[3] । तदनंतर श्वेत अगुरु को पीत गोरोचन से मिश्रित करके उससे उसके शरीर पर सुंदर छोटी छोटी पंक्तियों की आकृतियाँ चित्रित की गईं[4] । गोरोचन और लोध्रचूर्ण द्वारा उसके कपोलों को रँगकर कानों के ऊपर से जई के गुच्छे लटकाए गए[5] और अधरोष्ठ हल्के रंग से रँगे गए[6] । उसके चरण महावर द्वारा रँगे गए और नेत्रों में अंजन लगाया गया[7] । उसकी ग्रीवा और बाँहों को रत्नजटित बहुमूल्य आभूषणों से विभूषित किया गया[8] । अन्य अंगों पर भी उसने स्वर्ण के आभूषण धारण किए[9] । फिर इस प्रकार विवाह-शृंगार समाप्त कर वह दर्पण के सम्मुख खड़ी हुई[10] । तदनंतर उसकी माता ने आर्द्र हरिताल और मनःशिला को उँगली से लेकर उसके ललाट पर स्वर्ण के रंग का विवाह-दीक्षा का तिलक

---

(१) कुमार०, ७, ११ ।
(२) वही, ७, १३ ।
(३) वही, ७, १४ ।
(४) विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः ।
सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥
—वही, ७, १५ ।
(५) वही, ७, १७ ।
(६) रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्याः किंचिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः ।
कामप्यभिख्यां स्फुरितैरपुष्यदासन्नलावण्यफलोऽधरोष्ठः ॥
—वही, ७, १८ ।
(७) वही, ७, २० ।
(८) वही, ७, २१ ।
(९) वही ।
(१०) वही, ७, २२ ।

लगाया[1] और उसके हाथ में ऊर्णामय सूत्र बाँधा[2] । फिर कुल-देवता को प्रणाम कर लेने के पश्चात् वह बड़ी-बूढ़ियों को उच्चता के क्रम से प्रणाम करने गई और उन्होंने आशीर्वाद दिया—अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युः[3] । फिर उसे अन्य संबंधियों ने आशीर्वाद दिया।

इसी प्रकार वर भी अपने घर में माता और अन्य स्त्रियों द्वारा वरोचित वस्तुओं से सजाया गया[3] । उसने मस्तक, ग्रीवा, भुजा और कर्ण आदि में आभूषण धारण कराए गए। फिर 'हंसचिह्नदुकूलवान्'[4] होकर उसने हरिताल का तिलक[6] लगाया और दर्पण के सम्मुख जा खड़ा हुआ।[7] तदनंतर वरपक्ष सुवाद्यध्वनि के साथ साथ वधू के नगरद्वार पर पहुँचा[8] । तब वधूपक्ष के लोग अपने संबंधियों सहित आभूषणों से सुसज्जित होकर गजारूढ़ हो वरपक्ष के स्वागत[9] के लिये आए। नगरद्वार खुला हुआ था। द्वार में घुसते ही वरपक्ष पर पुष्पवर्षा की गई[10] । नगर की स्त्रियाँ घरों की छतों पर चढ़कर वरपक्ष को देखने लगीं और जलूस पर उन्होंने पुष्प-वर्षा की[11] । जलूस को देखने की व्यग्रता इस भाँति थी कि स्त्रियाँ

---

(१) कुमार०, ७, २३ ।

(२) वही, ७, २४ ।

(३) अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा ।
तया तु तस्यार्धशरीरभाजा पश्चात्कृताः स्निग्धजनाशिषोऽपि ॥
—वही, ७, २८ ।

(४) वही, ७, ३० ।

(५) वही, ७, ३२ ।

(६) वही, ७, ३३ ।

(७) वही, ७, ३६ ।

(८) वही, ७, ५० ।

(९) वही, ७, ५२ ।

(१०) प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनामगुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम् ।
—वही, ७, ५५ ।

(११) वही, ७, ५६ ।

अपनी वेणी-रचना[1], चरण-रंजन[2], शलाका द्वारा नेत्रंरंजन[3] और नीवी-बंधन[4] आदि क्रियाओं में व्यस्त होती हुई भी खिड़कियों पर दौड़ गईं। तोरण-पताकाओं से सजाए राजमार्ग पर जब जलूस पहुँचा तब उस पर मंगलमय अक्षत फेंका गया[5]। वर अपनी सवारी से उतरकर द्वार पर बैठा जहाँ उसकी पूजा करके उसका स्वागत किया गया[6] और उसको सरत्न अर्घ्य और मधु तथा गव्य प्रदान किया गया। फिर उसे नवदुकूल का जोड़ा पहनने के लिये दिया गया। साथ ही पुरोहित लोग मंत्र पढ़ रहे थे[7]। फिर उसे विनीत अवरोधरक्षक वधू के समीप ले गए[8] और पुरोहित ने उसके हाथ पर वधू का हाथ रखकर पाणिग्रहण कराया[9]। अब शिव और पार्वती की संकेत-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करके पूजी गईं[10]। फिर वरवधू ने, पुरोहित के आदेशानुसार, अग्नि की तीन बार परिक्रमा की और वधू ने अग्नि में अक्षत डाले[11]। तदनंतर पुरोहित ने

---

(१) कुमार०, ७, ५७।

(२) वही, ७, ५८।

(३) वही, ७, ५९।

(४) वही०, ७, ६०।

(५) वही, ७, ६२।

(६) वही, ७, ७०-७१।

(७) तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम्।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम्॥
—वही, ७, ७२।

(८) वही, ७, ७३।

(९) वही, ७, ७६-७८।

(१०) वही, ७, ७८।

(११) तौ दम्पती त्रिः परिणीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताक्षौ।
स कारयामास वधूं पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम्॥
—वही, ७, ८०।

वर-वधू को इस प्रकार आशीर्वाद दिया—यह पावन अग्नि तुम्हारे विवाह कर्म की साक्षी है। तुम दोनों धर्माचरण करनेवाले स्त्री-पुरुष बनो[1]। तब वर शिव वधू से कहते हैं—हे उमा! क्या तुम ध्रुव की चमक देखती हो? तुम्हारी भक्ति भी उसी ध्रुव ज्योति की भाँति होनी चाहिए[2]। इस पर वधू ने उत्तर दिया—'हाँ, देखती हूँ।' अब वैदिक क्रियाएँ समाप्त हुईं और लौकिक क्रियाओं का आरंभ हुआ। दंपति एक चौकोर वेदी पर रखे स्वर्णासन पर बैठे और उन पर अक्षत छिड़का गया[3]।

जब विवाह की सारी विधियाँ समाप्त हो गईं तब उत्सव का प्रारंभ हुआ। एक नाटक खेला गया जिसमें यात्रियों ने सुंदर अभिनय के साथ भावात्मक नृत्य किया। नाट्य-कला की प्रौढ़ता से उत्पन्न अंगों के सजीव संचालन से हृदयांतर के सारे भाव व्यक्त हो जाते थे। ये नटियाँ कौशिकी आदि वृत्तियों में पारंगता थीं[4]। अभिनय के अनंतर वर-वधू निकुंज (कौतुकागार) में गए जहाँ मंगलमय कनककलश रखे हुए थे और पुष्पशय्या सजी थी[5]। अंत में विवाह के अनंतर शिव और पार्वती (वर-वधू) प्रकृति विहार के निमित्त इधर

---

(१) वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी।
शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति॥
—कुमार०, ७, ८३

(२) ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच॥
—वही, ७, ८५।

(३) वही, ७, ८८।

(४) तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम्॥ वही, ७,९१

(५) कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथं
क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात्—वही ७, ९४

उधर सुंदर स्थानों में विचरण करने चले गए[1]। यह आधुनिक पाश्चात्यों के विवाहानंतर के honeymoon की भाँति प्रतीत होता है। इस प्रकार प्राजापत्य विवाह की विधियाँ संपन्न होती थीं।

गांधर्व विवाह आठ प्रकार के विवाहों में से एक है। इसका वर्णन स्मृतियों में आता है। इस विवाह के सिद्धांत के अनुसार पारस्परिक प्रेम और आकर्षण के परिणाम-स्वरूप युवा और युवती पुरुष-स्त्री पति-पत्नी के संबंध-सूत्र में बँध जाते थे। इस प्रकार के विवाह में किसी पक्ष के संबंधियों की राय की आवश्यकता नहीं थी। इसमें दोनों की केवल पारस्परिक अनुमति ही पर्याप्त थी। बल्कि पीछे से और संबंधियों की भी अनुमति मिल जाया करती थी। इसको हिंदू व्यवहार (Law) की सत्ता भी स्वीकार करती थी। इस प्रकार के विवाह का उदाहरण अभिज्ञान-शाकुंतल नाटक में मिलता है। दुष्यंत और शकुंतला का विवाह गांधर्व-रीत्यनुसार ही हुआ था। एक स्थान पर कहा भी गया है—"इस विषय में उसने अपने बड़ों की अपेक्षा नहीं की, न तुमने ही उसके संबंधियों से किसी प्रकार की अनुमति ली। जो प्रत्येक ने अपने आप किया है उस विषय में कोई अन्य उनसे क्या कहे[2]?"

गांधर्व विवाह

संभव है, कालिदास के समय तक गांधर्व विवाह की रीति समाज में क्षम्य रही हो, जैसा कि निम्न उद्धरण से विदित होता है—"राजाओं और ऋषियों की बहुतेरी कन्याओं ने गांधर्व रीति से विवाह किया है और बाद में उनको उनके बड़ों ने बधाई दी है[3]।"

(१) कुमार०, ८।

(२) नापेक्षितो गुरुजनोऽनया न त्वयापि पृष्टो बन्धुः।
एकैकस्य च चरिते किं वदत्वेक एकस्य ॥—अभि० शाकुं०, ५, १६।

(३) गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यः राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥—वही, ३, २०।

इतना होने पर भी इसी उद्धरण की दबी ध्वनि से प्रतीत होता है कि उस समय इस रीति का प्रचार नहीं था और कभी कभी इसकी निंदा भी की जाती थी, जैसा कि नीचे लिखे वक्तव्य से सिद्ध होता है—"अत: इस प्रकार का संबंध, विशेषकर एकांत में, पूर्ण परीक्षा के अनंतर स्थिर करना उचित है। अनजाने हृदयों के प्रति मित्रता इसी प्रकार घृणा और शत्रुता में परिणत हो जाती है[1]।" दोनों पक्ष के विशेष परिचय के बाद ही विवाह उचित है। यह वक्तव्य आज भी विवाहार्थियों के लिये पथ-प्रदर्शक है। पूरी समीक्षा और परिचय के बाद ही संबंध स्थिर करना ठीक है। यह बात उस समय और भी आवश्यक हो जाती है जब विवाह अनजाने और अव्यक्त रूप से करना हो। गांधर्व रीति के विवाह में ही प्राय: प्रेमपत्र (मदनलेख[2]) लिखे जाते होंगे। क्षत्रियों में इस रीति की प्राचीन काल में प्रतिष्ठा थी (क्षत्रियस्तु गान्धर्वो विवाह श्रेष्ठ उच्यते)।

वर द्वारा वधू-याचना

कभी कभी ऐसा भी होता था कि वर स्वयं अपनी भावी पत्नी को उसके माता-पिता से भी माँग लिया करता था। कभी कभी ऐसी याचना कन्या के सम्मुख ही की जाती थी। तब लज्जा से अवनत उसके नेत्र हस्त-कमल की पंखड़ियाँ गिनने लगते थे[3]। इस प्रकार की याचना दैव विवाह में भी हो सकती थी परंतु उसमें वधू के पिता को वर बैलों का जोड़ा आदि भेंट करता था। संभव है, इस प्रकार का विवाह प्राजापत्य के ही अंतर्गत आ सके।

---

(१) अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्॥—अभि० शाकुं०, ५, २४।

(२) मदनलेखोऽस्य क्रियताम्।—वही, ३, प्रियंवदा।

(३) एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥—कुमार०, ६, ८४।

साधारणतया यह विचार था कि समान कुल, गुण और वयवाले[1] वर-वधू विवाह-संबंध में जोड़े जायँ; इसी हेतु यह आशा की जाती थी कि आश्रम की कन्या किसी तपस्वी को ही ब्याहे, जैसा विदूषक के निम्न-लिखित व्यंग्यपूर्ण वक्तव्य से प्रमाणित होता है—"तब देव शीघ्र उसकी रक्षा करें जिसमें वह इंगुदी-तैल से चटपटे बालोंवाले किसी तपस्वी के हाथ न लग जाय[2]।"

उस समाज में बहु-विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी और श्रीसंपन्न पुरुषों की विशेषकर कई पत्नियाँ होती थीं[3]। राजागण तो प्रायः बहुपत्नीवाले होते थे। शकुंतला[4] और धारिणी[5] आदि की कई सपत्नियाँ थीं।

बहु-विवाह प्रथा

हिंदू शास्त्रों के अनुसार असवर्ण विवाह नहीं होते थे परंतु राजा लोग कभी असवर्ण विवाह कर लेते थे, जैसे राजा अग्निमित्र की रानी धारिणी के पिता ने एक विवाह असवर्ण भी किया था। इसी कारण मालविकाग्निमित्र नाटक में सेनापति वीरसेन को धारिणी का अवर्ण भ्राता कहा गया है।

वर्ण-विवाह

विवाह पुरुषत्व और स्त्रीत्व के पूर्ण विकास के अनंतर ही होता था। वधू अपने प्रेम और पत्नीत्व के उत्तरदायित्व एवं वैवाहिक विधियों को भली भाँति समझती थी। कई बार तो उसे विवाह के समय अपनी अनुमति

वर-वधू की अवस्था

---

(१) रघुवंश, ६, ७९.

(२) मा कस्यापि तपस्विनः इङ्गुदीतैलचिक्कणशिरसस्य हस्ते पतिष्यति।
—अभि० शाकुं०, २, विदूषक।

(३) बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्र भवता भवितव्यम्। विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।—वही, ६, राजा।

(४) वही।

(५) मालविकाग्निमित्र।

देनी पड़ती थी[1]। यदि ऐसा न होता तो पतिंवरा स्वयंवर में अपना पति स्वयं क्योंकर वरण कर सकती थी? यह तभी संभव था जब वधू की अवस्था उस विषय और समय की गुरुता को समझने में समर्थ होती।

वर-वधू की अवस्थाओं की परिपक्वता इस बात से भी लक्षित होती है कि पाणिग्रहण के समय दोनों के शरीरों में रोमांच हो आता है[2]। जब विवाह की विधियाँ समाप्त हो जाती थीं तब शीघ्र ही अच्छी तिथि पर विवाहांतक पुष्प-शय्या की रचना की जाती थी[3] और तदनंतर आनंदपूर्वक विचरण (honeymoon) के लिये दोनों अन्य सुंदर प्राकृतिक स्थानों को चले जाते थे[4]। इन बातों से भी वर-वधू की परिपुष्ट अवस्था के प्रमाण का पोषण होता है। वय-क्रम से युवाओं और युवतियों का विवाह करने की प्रथा प्रचलित थी। सबसे प्रथम ज्येष्ठतम और अंत में कनिष्ठतम भाई विवाह करता था, जैसा 'परिवेत्ता:'[5] पद से विदित होता है।

विवाह-वसन

ऐसा प्रतीत होता है कि विविध प्रांतों में भिन्न भिन्न विवाह-वसन[6] प्रयुक्त होते थे। मालविकाग्निमित्र नाटक में परिव्राजिका से प्रार्थना की गई है कि वह मालविका को विदर्भ देश में व्यवहृत होनेवाले वैवाहिक वसनों से सुसज्जित कर दे। वधू विवाहनेपथ्य के रूप में रेशमी

---

(१) कुमारसंभव, ७।

(२) वही, ७७।

(३) वही, ९४—क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात्॥

(४) वही, ८।

(५) स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे।
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः॥—रघु०, १२, १६।

(६) भगवति, यत्त्वं प्रसाधनगर्वं वहसि, तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे वैदर्भं विवाहनेपथ्यमिति। —मालविका०, ५, विदूषक।

वस्त्र धारण करती थी जो शरीर में बिलकुल ठीक होता था और बहुत लटकता नहीं था। वर भी इसी प्रकार दुकूल का जोड़ा, ऊर्ध्व और अधोवस्त्र धारण करता था। दोनों आभूषण पहनते थे। वधू स्तनांशुक और साड़ी पहनती थी।

विवाह की विधियों के समाप्त हो जाने के बाद ही पत्नी पति के साथ उसके घर चली जाती थी। पिता के गृह में विवाहानंतर वधू का वास बड़ा अनुचित समझा जाता था।

पतिगृह-गमन

जो स्त्री पति का घर छोड़कर पिता के घर में वास करती थी वह समाज-नीति के विरुद्ध आचरण करनेवाली समझी जाती थी। पिता के घर रहती हुई स्त्री पत्नीत्व के आदर्श से गिर जाती थी और इसके विरुद्ध पति के घर दासी-रूप में रहती हुई भी वह प्रशंसा के योग्य समझी जाती थी[1]। कवि ने अपने एक पात्र के मुख से निम्न उद्धृत वक्तव्य रखते हुए एक बड़े अंतर्दर्शी, समाजशास्त्री और सुधारक का परिचय दिया है—"पितृगृह में वास करनेवाली पतिव्रता को भी लोग संदेह की अन्यथा दृष्टि से देखते हैं अतः पति की अप्रिया होने पर भी वधू के संबंधी उसका पतिगृहनिवास ही पसंद करते हैं[2]।" इसी प्रकार स्त्रियों में स्वतंत्रता एक अक्षम्य अपराध समझा जाता था (किं पुरोगे स्वातन्त्र्यमवलम्बसे)। इन्हीं सब बातों के कारण शायद वधू को विवाह के बाद पति विदा कराकर अपने साथ लाता था।

---

(१) यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्॥—अभि० शाकुं०, ५, २७

(२) सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां
जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते
प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः॥—वही, १७।

वधू के प्रस्थान के समय गोरोचन, तीर्थमृत्तिका और दूर्वा आदि से उसे सजाते थे। ये सब मांगलिक वस्तुएँ थीं। साधारणतया पतिगृह के प्रति प्रस्थान करनेवाली वधुएँ शकुंतला की भाँति ही सजाई जाती थीं, जैसा निम्न वर्णन से ज्ञात होता है—शकुंतला के प्रस्थान के समय उसे चंद्रमा की भाँति एक श्वेत रेशमी वस्त्र दिया गया, फिर उसके चरण महावर से रँगे गए और तदुपरांत उसने आभूषण धारण किए। आभूषण पहन चुकने के बाद उसे दुकूल का एक जोड़ा दिया जाता था जो उसके ऊर्ध्व और अधो वस्त्र थे। पहला रेशमी वस्त्र कदाचित् आधुनिक चादर अथवा शाल का कार्य करता होगा। शकुंतला के प्रति कण्व के आशीर्वचन प्रस्थान के समय प्रत्येक वधू के प्रति कहे गए पिता के वचन आदर्श रूप में माने जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः[1] ॥

अर्थात् गुरुजनों की सेवा करो। सौतों के प्रति प्रिय सखी का व्यवहार करो। पति के विमुख होने पर भी उस पर रोष मत करो। परिजनों पर अतिशय दया करो। अपने सुंदर भाग्य के कारण गर्व मत करो। इस प्रकार ही आचरण करती हुई युवतियाँ गृहिणी-पद को प्राप्त करती हैं और इसके विपरीत आचरण करनेवाली अपने कुल में शूल की भाँति हो जाती हैं।

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्[2] ॥

---

(१) अभि० शाकुं०, ४, १८।
(२) वही, १९।

अर्थात् चतुरंतमही की चिरकाल तक सपत्नी होकर, अपने और दुष्यंत के अप्रतिरथ पुत्र को पति के स्थान पर प्रतिष्ठित करके और उसे कुटुंबभार सौंपकर पति के साथ ही तुम अवश्य इस शांतिप्रद आश्रम में निवास करोगी।

दूसरे श्लोक से यह भी ध्वनि निकलती है कि पत्नी एक बार पति के गृह जाकर शायद पिता के घर कभी नहीं लौटती थी। शकुंतला को पिता के आश्रम में आने की आज्ञा अपने गार्हस्थ्य के अंत में मिलती है, सो भी आश्रमवास के लिये, पितृ-गृह के लिये नहीं।

पूर्व और उत्तर काल की भाँति कालिदास के समय में भी भारतीय समाज ने पत्नी के ऊपर पति को बड़े अधिकार दे रखे थे। पत्नी निरंतर पति की सेवा में उसकी अनुचरी बनी रहती थी। प्रोषितपतिका का आचरण यक्षपत्नी की दिनचर्या से जाना जा सकता है। वह साधारणतया आदर्श पत्नी के रूप में चित्रित की गई है। मलिनवसना यक्षपत्नी पतिवंश का कीर्तिगान करने के निमित्त अपनी जंघाओं के ऊपर वीणा रखकर बैठती है परंतु दुःखावेग इतना तीव्र है कि वह अपने आँसू नहीं रोक सकती और वे निरंतर वह बहकर उसकी वीणा को भिगो देते हैं। साथ ही बारंबार की अभ्यस्त मूर्छना भी उसे भूल जाती है[1]। कभी तो वह देहली के फूलों को पति के कल्याणार्थ गिनती, कभी काकबलि जैसी अन्य क्रियाएँ संपादन करती क्योंकि 'पतिवंचिता पत्नियों के अधिकतर यही कार्य होते हैं[2]।' वह पर्यंक छोड़कर पृथ्वी पर शयन करती थी[3] और अपने केश तेल-रहित और सूखे रखती थी[4]। वह अपने नख कभी नहीं काटती थी, सूखी वेणी कभी

(१) मेघदूत—उत्तर, २३।
(२) वही, २४।
(३) वही, ३०।
(४) वही, २६।

नहीं खोलती थी[१]। इस प्रकार पति की अनुपस्थिति में पत्नी सारे आनंदव्यसन छोड़ देती थी। उसके नेत्र अंजन बिना निस्तेज हो जाते थे और मद्य के असेवन के कारण भ्रू अपना आकर्षण खो देते थे। घर लौटने के बाद ही पति उसकी सूखी वेणी अपने हाथों खोलकर फिर गूँथता था। पति पत्नी को प्यार करता था और उसका आदर और प्रतिष्ठा करता था। दशरथ की रानी कौशल्या पति द्वारा 'अर्चिता' थी (अर्चिता तस्य कौशल्या)। दूर रहनेवाले पति वर्षारंभ में ही अपने घर लौटकर पत्नी को सुख देते थे और वे अपने केशों को तेल से स्निग्ध करती तथा उनमें कंघी करती थीं। पति की अनुपस्थिति में चित्रण-ज्ञान उनका बड़ा साथ देता था। वे उसके चित्र तैयार करतीं अथवा प्यारे पालतू मयूर को अपने पाजेबों और तालियों की ध्वनि के साथ नचातीं।

पत्नी का गौरव लोग अच्छी तरह समझते थे क्योंकि यह स्पष्ट था कि बिना वैवाहिक प्रेम की उपलब्धि के धर्मप्राण हिंदू की कोई गति नहीं। जब शिव इस सत्य को जानकर ऊपर अरुंधती को देखते हैं तो विवाहानंतर के स्वर्गीय सुख के प्राप्त्यर्थ वे व्यग्र हो उठते हैं[२]। जब ऊपर लिखे प्रकार पत्नी अपने पति की अनुपस्थिति में अपने सारे व्यसनों को त्याग देती थी तब वह पतिप्रिया क्यों न हो?

स्त्रियों का व्रतानुचरण

निम्न-लिखित वक्तव्य से व्रताचरण करती हुई स्त्री की अवस्था का पता चलता है—'श्वेत (रेशमी) वस्त्र धारण किए केवल मंगलार्थ थोड़े से आभूषण पहने, बालों में पवित्र दूर्वांकुर धारण किए, व्रत के बहाने गर्व-रहित होकर

---

(१) मेघदूत।

(२) तद्दर्शनादभूच्छंभोर्भूयान्दारार्थमादरः।
क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्॥—कुमार०, ६,१३।

मेरे प्रति प्रसन्नवदना दीखती है[1] ।" सौभाग्यवती स्त्रियाँ चाहे कितनी भी निर्धन क्यों न हों, कभी भूषण-रहित नहीं होतीं, कुछ न कुछ पहिने ही और कोई न कोई शृंगार किए ही रहती हैं, जैसे चूड़ियाँ (मंगलसूत्र), कुंकुम-चिह्न (सिंदूर), नथ और कंकण आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि हिंदू समाज द्वारा आज-काल भी आदृत दूर्वांकुर उस समय व्रतानुचारिणी महिलाओं द्वारा बालों में धारण किया जाता था। दूर्वा के उल्लेख से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय गणपति की बड़ी पूजा होती थी; क्योंकि दूर्वा गणपति की ही पूजा में अधिकतर प्रयुक्त होती है। व्रत का आचरण करते हुए व्यक्ति का मानव-जाति के शत्रुओं—काम, क्रोध, मद, लोभ, आदि—से अलग रहना आवश्यक है। इसी को प्रकट करने के लिये उज्झित गर्व शब्द का व्यवहार किया गया है।

विधवाएँ और सती प्रथा

कई संकेतों से ज्ञात होता है कि समाज में विधवाएँ भी थीं। विवाह के अवसर पर वधू का शृंगार पतिपुत्रवती स्त्रियाँ ही कर सकती थीं[2]। ऐसे अवसरों पर विधवाएँ अमंगलरूपा समझी जाती थीं और उन्हें बराबर अलग रखते थे। इससे भी सिद्ध होता है कि विधवाओं की संख्या समाज में थी। अभिज्ञान-शाकुंतल के एक स्थल से ज्ञात होता है कि धनमित्र नामक एक धनी सार्थवाह की कई विधवाएँ थीं[3]।

सती प्रथा अथवा मृत पति की चिता में उसके शव के साथ जल मरने की रीति भी कालिदास के समय में भारतवर्ष में प्रचलित थी। मृत पति का अनुगमन करनेवाली स्त्रियों का वर्णन कालिदास के ग्रंथों में आया है (प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति)। रति अपने

---

(१) विक्रमो०, ३, १२।
(२) कुमार०, ७, ६।
(३) अभि० शाकुं०, ६, राजा।

पति की भस्म के साथ जल जाने के लिये प्रस्तुत हो जाती है! गर्भिणी[1] रानी अथवा अन्य साधारण गर्भिणी विधवा[2] सती नहीं हो सकती थी। कालिदास की राय में सती धर्म बड़ा स्वाभाविक है क्योंकि ऐसा तो निर्जीव भी करते हैं, फिर सजीव और तर्कशील मानवों की तो बात ही और है।

स्त्रियों का स्थान

समाज में स्त्रियों का स्थान उच्च था और उनकी उचित प्रतिष्ठा थी। उनके अधिकार बहुत कुछ आज ही जैसे थे परंतु उस समय उनका विशेष आदर था। बहुत संभव है, उनको उच्च श्रेणी की भाषात्मिका शिक्षा न दी जाती हो; परंतु कला के क्षेत्र में तो वे अद्भुत पंडिता थीं जैसा मालविकाग्निमित्र नाटक से सिद्ध होता है। शर्मिष्ठा जैसी कला-पारंगता महिलाएँ कला पर ग्रंथ भी लिख चुकी थीं[3]। फिर भी शिव-पार्वती के विवाह के अनंतर जब सरस्वती संस्कृत-काव्य-गान करती हैं तब वे शिव से तो शुद्ध संस्कृत में बात करती हैं परंतु पार्वती को मधुर और सरल प्राकृत में आशीर्वाद देती हैं[4]। संभव है, स्त्रियों की भाषात्मिका शिक्षा बहुत न होती हो।

समाज में वास्तव में उनके प्रति आजकल की ही भाँति कई प्रकार के विचार थे। कोई कोई तो उन्हें जन्म से ही धूर्त समझते थे और यदि स्त्रियों के प्रति दुष्यंत के विचार तत्कालीन समाज के विचारों की घोषणा करते हों तो यह कहा जा सकता है कि लोग उन्हें स्वाभाविक ही प्रत्युत्पन्न मति वाली समझते थे[5]। उनकी

---

(१) रघु०, १४, ५५-५६।

(२) अभि० शाकुं०, ६।

(३) मालविकाग्निमित्र, २, गणदास।

(४) कुमार०, ७, ९०।

(५) प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते।—अभि० शाकुं०, ५. राजा।

स्वाभाविक चातुरी, जो अन्यत्र से नहीं सीखी जाती, कोयल में सर्वथा सिद्ध है। कोयलें अपने बच्चों का अन्य पक्षियों से पालन-पोषण कराती हैं परंतु जैसे ही ये बच्चे उड़ने योग्य हो जाते हैं वैसे ही अपने पालक पक्षियों को छोड़कर अन्यत्र उड़ जाते हैं[१]। परंतु फिर भी ये विचार स्वार्थपर अवस्था के थे। दुष्यंत की लंपटता के लिये कुछ उचित सहायता चाहिए थी और उसे उसने स्त्रियों के मनोविज्ञान को इंगित कर लेना चाहा। शिव के विचार स्त्रियों के प्रति और ही हैं। उनके विचार में पुरुष और स्त्री के नैतिक स्थान में भेद-भाव करनेवाले लोग मूर्ख हैं। भले दोनों को समान समझते हैं। शिव अरुंधती का, स्त्री होने के कारण, अनादर नहीं करते वरन् सप्तर्षि-मंडल के अन्य ऋषियों की भाँति ही उसकी भी प्रतिष्ठा करते हैं[२]। परंतु पुरुषों की ही भाँति स्त्रियों के प्रति भी न्याय का दंड-विधान बड़ा कठोर था और मालविकाग्निमित्र नाटक की नायिका मालविका के समान स्त्रियाँ भी बेड़ी पहनाकर (निगडबंधनं) पातालाभिमुख कारागार में डाल दी जाती थीं[३]। उनका व्यावहारिक (legal) स्थान भी कुछ ऊँचा न था। उनके अपने अधिकार बहुत थोड़े थे। विधवा रानी अपने अधिकार से सिंहासन पर नहीं बैठ सकती थी वरन् अपने गर्भ के भावी पुत्र के अधिकार से बैठती थी[४]। इसी प्रकार विधवा भी अपने पति की उत्तराधिकारिणी नहीं समझी जाती थी और उसके पति का सारा धन पुत्र के अभाव में राजकोष में चला जाता था।

---

(१) अभि० शाकुं०, २२।
(२) कुमार०, ६।
(३) मालविका०, ४, चेटी।
(४) रघु०, १९, ५५।

कालिदास के समय के नागरिकों के स्वतंत्र जीवन में पर्दा स्वभाव से ही वर्ज्य था। यद्यपि कालिदास के ग्रंथों में अवरोधगृह और अंत:पुर के अनेकों वर्णन मिलते हैं जिनका तात्पर्य गृह के अंतरंग (private) से है तथापि उनसे यह भाव नहीं निकाला जा सकता कि उनके अंदर स्त्रियाँ गुप्त, पर्दे के भीतर रखी जाती थीं। उनका तात्पर्य केवल उन अंतरंग कक्षों और आँगनों से है जिनका गृह में होना नितांत आवश्यक है। जब कभी स्वयं पुरुष को गृह में एकांतता की आवश्यकता पड़ती है तो लज्जाधनी महिलाओं को क्यों न रही हो। फिर उन्हें तो कई प्रकार के आचार-नियमों का अनुसरण करना होता था; इसलिये अवरोधगृह अथवा अंत:पुर का अस्तित्व पर्दा को प्रमाणित नहीं करता। इसके अतिरिक्त भारतीय स्त्रियाँ तो सार्वजनिक सड़कों से जाकर नदियों में, सबके सामने गाती हुई, स्नान करती थीं[१] और नगर की दीर्घिकाओं में जलक्रीड़ा करती थीं[२]। दोलाधिरोहण[३] (झूला) भी उनका एक प्रमुख व्यसन था। फिर उन्हें पर्दे में रहनेवाली कैसे कहा जा सकता है? परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय महिलाएँ आधुनिक पाश्चात्य जगत् की स्त्रियों की भाँति सर्वत्र पुरुषों में अनियंत्रित घूमती थीं। लज्जा स्त्रियों का सर्वोत्तम गुण समझा जाता था और इस हेतु बाहर गुरु-जनों के सम्मुख वे सदा अवगुंठन[४] सहित निकलती थीं। इस अवगुंठन को आज का पर्दा नहीं समझना चाहिए। इसका प्रयोग केवल लज्जाभाव से होता था, भीत्यर्थ नहीं। पति के साथ

पर्दे की प्रथा

---

(१) रघु०, १६, ६४।
(२) वही, १६, १३।
(३) मालविका०, ३।
(४) अभि० शाकुं०, ५।

गुरुजनों के सम्मुख भारतीय स्त्री विना अवगुंठन (घूँघट) के निकलने में सकुचाती थी, क्योंकि यह एक प्रकार की उच्छृंखलता होती। यह प्रथा भारतवर्ष में आज तक सुरक्षित है।

घर से बाहर जाते समय स्त्रियाँ अपने शरीर को एक चादर से ढक लेती थीं। एक स्थल पर एक वक्तव्य मिलता है—"वह अवगुंठनवती कौन है जिसके शरीर का सौंदर्य पूर्णतया दर्शित नहीं है[1] ?" एक अन्य प्रसंग में कहा गया है—"अपनी लज्जा क्षण भर के लिये दूर करो और अवगुंठन हटा दो[2] ।" कार्यवश सार्वजनिक स्थानों में जानेवाली स्त्रियों के प्रति कोई नियंत्रण नहीं था। वे न केवल विवाह आदि अवसरों पर पड़ोसियों, संबंधियों और अपने राजा के घर जाकर उत्सव में सम्मिलित होती थीं बल्कि प्रायः साधारण स्त्रियाँ अपने ईख आदि के खेत भी रखाती थीं और उस समय एक साथ मिलकर (कोरस में) यश-कीर्ति-संबंधी गाने गाती थीं।

वेशभूषा—वस्त्र

भारतवर्ष जैसे उष्ण देश में वस्त्रों की बड़ी आवश्यकता नहीं थी, फिर भी कालिदास के ग्रंथों से वस्त्रों के प्रति हमें जो संकेत उपलब्ध होते हैं उनसे हमारे ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है। गर्मियों में लोग बहुत थोड़े कपड़े पहनते थे और उष्णता के कारण बहुत पतले और चिकने कपड़े तैयार किए जाते थे। इसी कारण कपड़ों के काट और उनकी सिलाई में हमें बहुत विकास नहीं मिलता। पुरुष और स्त्रियों के भिन्न भिन्न वस्त्रों का वर्णन अलग अलग ही ठीक जँचता है इसलिये ऐसा ही करेंगे।

कालिदास के ग्रंथों से पता चलता है कि पुरुष एक जोड़ा वस्त्र पहनते थे। इस जोड़े में से एक उत्तरीय और दूसरा अधोवस्त्र रहता

---

(१) का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्येत पोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥
अभि० शाकुं०,५,१३।

(२) वही।

होगा। अधोवस्त्र धोती की भाँति बाँधा जाता होगा। मथुरा म्यूजियम में सुरक्षित शिलापट्टों पर उत्कीर्ण और कोरकर बनाई हुई अन्य मूर्तियों को जो वस्त्र पहनाए गए हैं वे ही कालिदास के वस्त्र-युगल के प्रतिनिधि हैं। इस म्यूजियम की यक्ष और देव प्रतिमाएँ सभी एक ही प्रकार के वस्त्र धारण किए हुए हैं जो वही युगल-वस्त्र—उत्तरीय और फेटे के रूप में बँधी हुई धोती—हैं। विवाह के समय भी यही दो वस्त्र पहने जाते थे परंतु अंतर इतना अवश्य था कि वे साधारण रूई के सूत के नहीं बल्कि रेशम के बने होते थे। ग्रीष्म ऋतु में पहने जानेवाले सुंदर, सुचिक्कण और पतले रेशमी वस्त्र श्रीमानों को बड़े ही प्रिय थे। एक प्रकार का रेशमी वस्त्र चीनांशुक[1] कहलाता था जो सदा की भाँति तब भी उत्पन्न करनेवाले चीन देश से आता था।

पुरुषों के वस्त्र

वस्त्र कई प्रकार की बनावट के होते थे—कोई श्वेत (धौत), कोई लाल (काषाय), कोई नीला, कोई कृष्ण (उत्तरीय) और कोई पीत। कभी कभी वस्त्रों को, उनमें हंसों की आकृति बनाते हुए, बुनते थे (हंसचिह्नदुकूलवान्)। मथुरा म्यूजियम की एक प्रतिमा के वस्त्रों में इसी प्रकार के हंस-चिह्नों की छाप दिखाई देती है। यह दुकूल वस्त्रों का ही उदाहरण है। हमें वर की पोशाक में एक लंबे वस्त्र (लंबिदुकूलधारी) का उल्लेख मिलता है जिसका तात्पर्य कदाचित् एक रेशमी चादर से था। यद्यपि हमें ऊनी वस्त्रों का स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता फिर भी ऊर्णा का उल्लेख आता है। ऊर्णा के सूत से ही वर-वधू के 'कौतुकहस्तसूत्रम्'[2] अथवा विवाह-कंकण प्रस्तुत किए जाते थे। इससे सिद्ध होता है कि शीतकाल की अतिशय सर्दी से बचने के लिये भारतीय ऊनी वस्त्रों का भी प्रयोग करते

---

(१) कुमार०, ७, ३। अभि० शाकुं०, १, ३३।

(२) वही, ७, २५।

होंगे। इसका उल्लेख संस्कृत के चिकित्सा-साहित्य में अधिक मिलता है, जहाँ इसकी पवित्रता और इसके रोगनाशक गुणों की प्रशंसा की गई है।

वधू के वस्त्रों के संकेत से ज्ञात होता है कि उसके वस्त्रों के भी दो अंग हुआ करते थे। उसका भी एक ऊर्ध्व और दूसरा अधो वस्त्र हुआ करता था। अधोवस्त्र आधुनिक साड़ी की भाँति होता होगा परंतु उसके सामने का चुना हुआ भाग एक सूत्र से बँधा होता था जिसे नीवी[1] (इजारबंद) कहते थे और उसकी गाँठ को नीवीबंध कहते थे। नीवी का व्यवहार अभी हाल तक भारतवर्ष में होता आया है और अब भी कुछ स्थानों पर वृद्धाएँ नीवी की सहायता से ही अपनी साड़ी पहनती हैं। इनके अतिरिक्त वे एक प्रकार की चोली भी पहनती थीं जिसे 'स्तनांशुक'[2] कहते थे। इससे सारा ऊपरी भाग नहीं ढकता था पर, जैसा कि 'स्तनांशुक' शब्द से ज्ञात होता है, केवल स्तन-भाग ढकता था। इस प्रकार के स्तनांशुक मथुरा म्यूजियम की देवी-प्रतिमाओं पर मिल जाते हैं। इसी प्रकार के वस्त्र अजंता के चित्रकारों ने भी अपनी चित्रित स्त्रियों को प्रदान किए हैं। साड़ी के पहनने का उदाहरण भी हमें अजंता के चित्रों से उपलब्ध होता है। मथुरा म्यूजियम के एक उत्कीर्ण शिलापट्ट की सप्तमातृकाएँ घँघरीदार धोती पहने हुए हैं। बहुत संभव है, पहले इसी प्रकार की धोतियाँ पहनी जाती हों परंतु ये सिर से नहीं ओढ़ी जाती थीं जैसा मथुरा के शिलापट्टों और अजंता के चित्रों से सिद्ध होता है। अजंता में यशोधरा और कितनी ही अन्य पात्रियाँ भी अधोभाग में केवल धोती भर लपेटे हैं। लंबि-दुकूल स्त्रियों के लिये भी चादर का कार्य करता होगा जिससे वे

स्त्रियों के वस्त्र

---

(१) कुमार०, ७, ६०।
(२) विक्रमो०; ३, १२।

अपना सिर ढकती थीं। परंतु आश्चर्य यह है कि शायद आज तक कहीं चित्रों अथवा प्रतिमाओं की कोई प्राचीन स्त्री सिर से कपड़ा ओढ़े नहीं देखी गई। यह चादर ही कभी कभी अवगुंठन का कार्य भी करती होगी। उसके ऊपर और नीचे की छोरें कमर पर पेटी के नीचे दबी रहती थीं (क्षौम्यान्तरितमेखले)। यह क्षौम शायद अधोवस्त्र था जिससे कटिप्रदेश छिपा रहता था और इसी प्रकार यह मेखला का आच्छादन हो सकता था। कभी कभी शीतलता प्रदान करने के लिये गर्मियों में कपड़ों में मोती गूँथे जाते थे। औरतें कभी कभी नीली और कभी सीता की भाँति लाल साड़ी (काषायपरिवीतेन) पहनती थीं।

आभूषण

कालिदास के ग्रंथों में आभूषणों के विषय में असंख्य उल्लेख मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि उस समय पुरुष और स्त्री दोनों आभूषणों का खूब प्रयोग करते थे। साधारणतया निम्नलिखित आभूषणों का व्यवहार होता था—केयूर, नूपुर, वलय (कंगन), मेखला, रशना अथवा कांची (करधनी), कुंडल, नथ, अंगुलीयक, हार, हेमसूत्र ('चेन'), मुक्ताओं और रत्नों के अन्य आभूषण जो मस्तक पर और वेणी में गूँथकर पहने जाते थे। मुक्ताओं के ऐसे हार भी पहनते थे जिनके बीच में इंद्रनील जड़ा होता था। ग्रीष्म ऋतु के वस्त्रों में भी आभूषण लगे रहते थे।

पुरुष के आभूषण

पुरुष भी आभूषण पहनते थे परंतु स्त्रियों की अपेक्षा बहुत कम। वे निम्न-लिखित आभूषण पहनते थे—वलय, केयूर, मुक्ताहार और हेमसूत्र। राजा कपालमणि अथवा मुकुट में रत्न धारण करते थे। पुरुष अंगुलीयक अर्थात् अँगूठी का भी प्रयोग करते थे।

स्त्रियाँ बहुत से आभूषण धारण करती थीं। उनमें से मुख्य नीचे दिए जाते हैं—केयूर, नूपुर, वलय, बहुत प्रकार की मेखलाएँ,

कुंडल (कर्णाभरण), नथ, मुक्ताहार, हेमसूत्र और मस्तक एवं वेणियों में पहने जानेवाले आभूषण। बालों को आच्छादित करनेवाले रत्नजाल और कपड़ों में लगे जेवरों का भी वे उपयोग करती थीं। प्रोषितपतिकाएँ उन आभूषणों के सिवा कोई आभूषण नहीं पहनती थीं जो सौभाग्य-चिह्न-स्वरूप नितांत आवश्यक न थे। अँगूठियाँ कई प्रकार की थीं। एक प्रकार की अँगूठी सर्पमुद्रांकित[1] होती थी। दूसरी वे थीं जिन पर स्वामी का नाम[2] खुदा होता था। तप्त चामीकर[3] के बने अंगद अथवा केयूरों का भी उल्लेख मिलता है।

स्त्रियों के आभूषण

स्त्रियों की भाँति पुरुष भी लंबे केश रखते थे। दिलीप जब गाय की सेवा करने उसके पीछे पीछे वन को जाते हैं तो लता-प्रतानों से अपने केशों को बाँध लेते हैं[4]। स्त्रियाँ अपने लंबे केशों में तेल लगाकर कंघी करती थीं और उनको दो भागों में विभक्त कर माँग बनाकर वेणी बनाती थीं। इन लटकती हुई लंबी वेणियों में वे फूल, मोती और रत्नों को गूँथती थीं और माँग की रेखा को भी फूलों आदि से सुसज्जित करती थीं। सामने की अलकें एक प्रकार के मुक्ताजाल से आच्छादित कर ली जाती थीं। प्रोषितपतिकाएँ इनमें से कोई शृंगार नहीं करती थीं। स्नान आदि के अनंतर वे अपने केशों को अगरु और संदल आदि के धूम्र से सुखाती और सुगंधित करती थीं।

केश

शारीरिक शृंगार की बहुतेरी सामग्रियाँ भारतीय प्रयोग करते थे। पुरुष और स्त्री दोनों ही शरीर को सुंदर और स्वच्छ

---

(१) इदं सर्पमुद्रितमङ्गुलीयकम् ।—मालविका०, ४, देवी।
(२) नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य... ।—अभि० शाकुं०, १।
(३) विक्रमो०, १, १३।
(४) रघु०, २, ८।

एवं सुगंधित बनाने के उपाय करते थे। इसलिये वे अपने शरीर में अंगराग[१] और हरिचंदन[२] मलते थे। स्त्रियाँ अपने पाँवों को लाह[३] अथवा महावर से रँगती थीं। वे नेत्रों में अंजन[४] और ललाट पर तिलक[५] लगाती थीं। दीर्घिकाओं में स्नानार्थ उतरती हुई स्त्रियों के पदों के रंग से उनके सोपान रँग जाया करते थे[६]। रघुवंश के एक श्लोक[७] से पता चलता है कि स्नान के समय नदी में जलक्रीड़ा करती हुई स्त्रियों के नेत्रों का अंजन और होठों पर चढ़ा हुआ रंग, एक दूसरी पर क्रीड़ार्थ जल फेंकने से, किस भाँति धुल जाया करते थे। अपने शरीर को स्त्रियाँ कभी कभी सुंदर छोटी छोटी पत्तियों[८] के चित्रण से विभूषित करती थीं। कपोलों[९] पर भी रंग चढ़ाया जाता था। अपने होठों पर लोध्र चूर्ण लगाकर वे उनका रंग पीत-काषाय[१०] करती थीं। एक श्लोक[११] के विश्लेषण से हमें निम्न-लिखित बातों का बोध होता है—(१) होठों को आलक्तक रंग से रँगती थीं; (२) पूरे मुखमंडल को भी रँगती थीं। यहाँ पर विशेषक शब्द का व्यवहार हुआ है जिसका भाव है—स्त्रियों के मुखमंडल पर विभिन्न रंगों के छोटे छोटे बिंदुओं का अंकन

अन्य शारीरिक शृंगार

(१) रघु०, ६; कुमार०, ७।
(२) वही।
(३) वही।
(४) वही।
(५) वही।
(६) वही।
(७) रघु०,५६।
(८) वही, ६, २६। मालविका०, ३, ५।
(९) वही।
(१०) वही।
(११) मालविका०, ३, ५

करना (अभिनवा इव पत्र विशेषका: ।—रघु० ९, २९; ३) अविधवाएँ अपने ललाट पर प्राय: कुंकुम (अब सिंदूर) अथवा कस्तूरी का श्याम टीका लगाती थीं। कुंकुम का टीका लगाकर कभी कभी अंजनबिंदु भी ललाट पर लगाती थीं। आजकल कुछ पुराने खयाल की स्त्रियाँ इसका प्रतिनिधि-रूप टिकली धारण करती हैं।

पुष्प-व्यवहार

कालिदास के समय में लोग पुष्पों का खूब व्यवहार करते थे। कालिदास के ग्रंथों में फूलों के असंख्य उल्लेख हुए हैं। उनके बिना कोई उत्सव संभव नहीं था। उत्सव-दिवसों पर चारों ओर सजाने का मुख्य काम उन्हीं के द्वारा संपन्न होता था। पुरुष और स्त्रियाँ शरीर के बराबर लंबी फूलों की माला पहनती थीं। बहुत से आभूषण तो फूलों की नकल करके बनाए जाते थे। एक स्थल पर स्वर्ण के स्थान पर कुसुम-मेखला का वर्णन मिलता है। युवतियाँ फूलों और केसर की पत्तियों का बालों में आभूषणों की भाँति व्यवहार करती थीं। केसर के फूलों की मेखला मुक्तादाम के स्थान पर व्यवहृत होती थी और कर्णिकार के फूल कुंडल का काम देते थे। स्त्रियाँ कुंद-कलियों का बालों में, सिरस के फूलों का कानों पर, कुरबक पुष्पों का वेणियों में और वर्षा ऋतु के कुसुमों का माँग की रेखा पर प्रयोग करती थीं। फिर मंदार पुष्प को बालों में और कमल की छोटी कलियों को कानों में पहनती थीं। ऋषि-कन्याएँ केवल पुष्पों के ही आभूषण पहनती थीं। इस प्रकार भारतीयों के नित्य के शृंगार में पुष्पों का बड़ा ऊँचा स्थान था। नदी-कूलों पर दोनों ओर यूथिका पुष्प खिलते थे जिनका मालियों की स्त्रियाँ (पुष्पलावी[1]) सदा चयन करती रहती होंगी। सचमुच

(१) मेघदूत, २८।

ही कलाप्रिय भारतीयों में पुष्प की बड़ी माँग के कारण मालियों का व्यवसाय खूब चलता होगा।

दर्पण

शृंगार में दर्पण भी एक आवश्यक स्थान की पूर्ति करता था। किस धातु से इसका निर्माण होता था इसका पता तो नहीं चलता, परंतु इतना अवश्य है कि भारतीय पुरुष और स्त्री सदा इसका व्यवहार करते थे। कालिदास ने कई स्थानों पर दर्पणों का उल्लेख किया है[1]। अन्य शारीरिक शृंगार समाप्त कर वे दर्पण में उसका प्रभाव देखते थे। वैवाहिक नेपथ्य के समाप्त हो जाने के बाद वर[2] और वधू दर्पण में अपना प्रतिबिंब देखते थे। इस प्रकार दर्पण का प्रयोग साधारण शृंगार में होता हुआ धार्मिक कार्यों में भी होने लगा था।

भोजन

कालिदास के समय का भारतीय भोजन बड़ा ही बलवर्धक था। यव, गेहूँ और चावल राष्ट्र के भोजन थे और अनंत गोधन उसे दूध, मक्खन, घी और दही प्रदान करता था। दूध आदि से भोजन की अन्य बड़ी स्वादिष्ट वस्तुएँ तैयार की जाती थीं। चीनी से भोजन में बड़ा स्वाद आ जाता था और इससे तथा दूध से भारतीयों का अत्यंत प्रिय खीर तैयार किया जाता था। चीनी कई प्रकार की होती थी। एक प्रकार की चीनी का नाम, जो हमें कालिदास से प्राप्त होता है, 'मत्स्यपिंड'[3] था। लोगों के प्रिय फूल केवल उनके विलास की सामग्री नहीं थे वरन् उनसे मधुमक्खियाँ अनंत मधु

(१) प्रतिमा ददर्श।—कुमार०, ७, ३६।
विभ्रमदर्पणम्।—रघु०, १०, १०।

(२) कुमार०, ७, ३६।

(३) मालविका०,३, विदू०—सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यपिण्डकोपनता...।

निकालती थीं और देवताओं के भोजनार्थ मध्वमृत प्राप्त होता था। मधु से अपनी तृप्ति तो होती ही थी, यह देवताओं के भी काम में आता था और इससे अतिथि-सत्कार होता था।

राजा के बाहर निकलने के समय जैसे आज गाँव के लोग नजर लेकर उससे मिलते हैं वैसे ही उस समय वृद्ध घोष भेंट के रूप में घी-मक्खन लेकर उपस्थित होते थे[1]। ये घोष प्राचीन और अर्वाचीन आभीर थे जो आधुनिक अहीरों अथवा ग्वालों की भाँति बड़े समुदाय में गाएँ पालते थे और उनके दूध से घी-मक्खन आदि चीजें तैयार करते थे। खीर को 'पयश्चरुम्' भी कहते थे जिससे भरे स्वर्ण-भांडों का हवाला कालिदास के ग्रंथों में मिलता है।

शिखरिणी[2] एक अन्य प्रकार की बड़ी स्वादिष्ठ वस्तु थी जो घी, चीनी और विविध मसालों से तैयार की जाती थी। यह कदाचित् कालिदास के समय के नित्य भोजन का एक अंग था। भोजन में मसालों का भी उपयोग होता था। इन मसालों में से कम से कम दो के नाम हमें कवि के ग्रंथों में मिल जाते हैं। वे हैं लौंग और इलायची।

मांस भी उस समय के भोजन का एक मुख्य अंग प्रतीत होता है। आखेट में जीव-हिंसा निरर्थक नहीं की जाती थी; शास्त्रानुमोदित मृगों आदि का मांस सारे देश में राष्ट्र के भोजन के लिये प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होता था। आश्चर्य यह है कि ब्राह्मण तक इस भोजन से वंचित नहीं थे। अभिज्ञान-शाकुंतल का विदूषक एक स्थल पर कुछ खेद के साथ कहता है—"असमय भोजन मिलता है; वह भी बहुधा लौहदंड पर भुने हुए मांस[3] का ही होता है।" यह

---

(१) रघु०, १, ४५—हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।

(२) विक्रमो०, ३, विदू०।

(३) अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते।—अभि० शाकुं०, २, विदू०।

कालिदास के समय में ही नहीं प्रत्युत सदा भारतवर्ष के भोजन में प्रचलित रहा है। मृच्छकटिक नाटक का विदूषक भी वसंतसेना के प्रासाद में भोजनार्थ निमंत्रित होने के लिये मरता है—वहाँ भी मांस बनाया जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण भले प्रकार मांस का भोजन करते थे। इसी कारण कभी कभी तो इस प्रकार के भोजन को, जैन भोजन के विरोध में, ब्राह्मण अथवा वैदिक भोजन कहा गया है। आखेट से ही मांस की प्राप्ति नहीं होती थी। कालिदास के उल्लेख से पता चलता है कि बूचरखाने भी देश में थे जहाँ पशुओं का नित्य वध होता था। यही मांस रोज बाजारों में बिकने जाता होगा जिसे आर्य ब्राह्मण खाते होंगे। मनुस्मृति में भी आठ प्रकार के कसाइयों का उल्लेख है। अशोक के प्रथम शिलालेख से तो ज्ञात होता है कि बौद्ध होने के पूर्व उसके भोजनालय के लिये प्रतिदिन सहस्रों पशु मारे जाते थे और पीछे केवल दो मयूर और एक मृग मारे जाने लगे थे जिनको उसने बाद को देश भर में हिंसा बंद करते समय अवध्य कर दिया था। बूचरखाने के संबंध में कालिदास का उल्लेख इस प्रकार है—"और श्रीमान् तो बूचरखाने (सूना) के ऊपर चारों ओर चक्कर काटते हुए आमिषलोलुप किंतु सभीत पक्षी की भाँति हैं[1]।"

मद्यपान

मद्यपान उस समय देशव्यापी हो गया था। कालिदास ने मद्यपान के कितने ही हवाले दिए हैं जिनके परिणाम नित्य दृष्टिगोचर होते रहते थे। पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी काफी मद्यपान करती थीं। ऐसा विश्वास था कि मद्यपान से स्त्रियों पर एक विशेष सौंदर्य[2] आता है (माघ—चारुता वपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः। तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो

---

(१) भवानपि सूनापरिसरचर इव गृध्र आमिषलोलुपो भीरुकश्च।
—मालविका०, २, विदू०।

(२) मदः किल स्त्रीजनस्य मण्डनमिति।—वही, ३, इरावती।

दयितसङ्गमभूषः ॥—शिशुपालवध, १०, ३३। असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना।—कुमारसंभव, ४, १२। ललितविभ्रम-बन्धविचक्षणम्...पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः।—रघुवंश, ९, ३६। रागकान्तनयनेषु नितान्तं विद्रुमारुणकपोलतलेषु। सर्वगापि ददृशे वनितानां दर्पणेष्विव मुखेषु मदश्रीः॥—किरातार्जुनीय, ९, ६३)। अग्निमित्र की रानी इरावती मालविकाग्निमित्र नाटक में मद्यपानोपरांत अर्धविक्षिप्ता[1] सी दीखती है। रघुवंश में राजा अज की रानी इंदुमती राजा के मुख से मद्य अपने मुँह में लेती है। गणिकाएँ भी इसमें बहुत भाग लेती होंगी क्योंकि जब संभ्रांत महिलाओं का यह हाल है तब उनका इससे वंचित रहना तो सर्वथा असंभव था। अभिज्ञान-शाकुंतल में नागरिक[2] के उच्च पदाधिकारियों और साधारण पुलिस के सिपाहियों के मुक्त अभियुक्त से प्राप्त पुरस्कार के रुपए से मद्यपान का उल्लेख है। रघु की सारी सेना नारिकेल से तैयार किए आसव[3] का पान करती है। हमें मद्यपान के प्यालों (चषक), मार्गस्थ मद्य की दूकानों[4] और आपानभूमियों[5] के कई उल्लेख मिलते हैं। कालिदास के ग्रंथों में शराब के साधारणतया निम्न-लिखित नाम आए हैं—मद्य, आसव, वारुणी, सुरा। सुरा का सौंदर्य लोगों को रक्तवर्ण और घूर्णित नेत्रों तथा पद पद पर निरर्थक शब्दों के उच्चारण में प्राप्त होता था। कुमारसंभव में शिव स्वयं मद्यपान करते हैं और पार्वती को भी कराते हैं[6]। दंपति का मद्य-

---

(१) युक्तमदा इरावती।— मालवि०, ३।

(२) कादम्बरीसखित्वमस्माकं प्रथमशोभितमिष्यते।
—अभि० शाकुं०, ६, स्यालः।

(३) रघु०, ४, ४२।

(४) अभि० शाकुं०, ६।

(५) रघु०, ४, ४२।

(६) कुमार०, ८, ७७।

पान एक साधारण व्यसन प्रतीत होता है। मालविकाग्निमित्र में मद्यपान द्वारा उत्पन्न अर्धविक्षिप्तता और उसके दूर करनेवाले मत्स्य-पिंड[1] (एक प्रकार की चीनी) का हवाला है। प्राचीन चिकित्सा-शास्त्र के ग्रंथों में, मदात्यय-चिकित्सा के प्रकरणों में, मत्स्यपिंड को मदात्यय का निवारक बताया गया है (देखो, पक्वेक्षुरसप्रकृतिकः सुराविशेषः)। इससे विदित होता है कि मद्यपान भारतवर्ष में खूब प्रचलित था और यह पुष्पों (विशेषकर मधूक) से प्रस्तुत किया जाता था।

त्यौहार और उत्सव

त्यौहार और उत्सव तो प्रायः वही थे जो आज हैं परंतु उनमें से कितने ही आजकल के हिंदू-समाज ने भुला दिए हैं। पुरुहूतध्वज वह उत्सव था जो इंद्रधनुष के प्रथम दर्शन के अवसर पर मनाया जाता था और जिसमें इंद्र की पूजा होती थी। दशाह भी एक प्रकार का उत्सव ही था। प्रोषितपतिकाएँ अपने विदेशी पति के कल्याण और शुभागमन के निमित्त कालबलिपूजा करती थीं। उत्सवों में नगर के राजपथ और प्रासाद तोरण, पताकाओं, पुष्पों और चित्रणों द्वारा सजाए जाते थे। रामाभिषेक के समय अयोध्या, शिव के विवाह के समय कल्पित हिमालय नगर और इंदुमती के स्वयंवर के समय विदर्भराज की नगरी, ये सब सुंदर मांगलिक वस्तुओं से सुसज्जित किए गए थे। तोरण रस्सियों में पत्ते गूँथकर द्वारों और दीवारों के सामने बाँधकर बनाए जाते थे जो आज भी उत्सव-दिवस में प्रायः देखे जा सकते हैं। वसंतोत्सव बड़े धूमधाम के साथ होता था, उसमें फूलों का विशेष व्यवहार होता था और नाटक खेले जाते थे। मालविकाग्निमित्र नाटक उसी समय खेला गया था।

---

(१) मालविका०, ३, विदू०।

मद्य और थियेटर जिन भारतीयों के विलास के सहायक थे उनके आनंद-व्यसन ग्रीकों की रुचि के अनुकूल प्रतीत होते हैं।

आनंद-व्यसन

इनके व्यसन में मद्य और पुष्पों का स्थान मुख्य था। शरीरांत लंबे स्रज और अंगराग आदि स्त्रियों का सौंदर्य द्विगुणित करते थे। मालविकाग्निमित्र[1] में लाक्षणिक और ग्राम्य संगीत का बड़ा विशद वर्णन मिलता है। वसंतोत्सव पर बड़े बड़े कवियों के नाटक खेले जाते थे[2]; उस समय मदमत्त दर्शक रंगमंच के सम्मुख बैठे आपे में नहीं रहते थे। नगर की दीर्घिकाओं में स्नान करते समय महिलाएँ बच्चों की तरह अत्यधिक आनंद-क्रीड़ा करती थीं। वे जल को पीटती थीं जिससे मृदंग की भाँति ध्वनि निकलती थी। एक स्थल पर कवि ने कहा है कि ग्रीष्म ऋतु में जो सुरभियुक्त आम्रमंजरी मद्य और पाटलपुष्प अपने साथ लाती है, कामी जनों के सारे पाप हरण कर लेती है। यह वक्तव्य इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि यह व्यसनी नागरिकों के आनंद-व्यसनों के लिये अनुकूल वातावरण को इंगित करता है। सुंदर बागीचों के कुंजों में पुष्पों और पल्लवों द्वारा प्रस्तुत शय्याओं का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार लोग अनेक प्रकार से आनंद मनाते थे। जब कोई राजा सुरा और सुंदरी के फेर में पड़कर राजकार्य सचिवों के हाथ में छोड़ देता था (सन्निवेश्य सचिवेष्वतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत्—रघु०, १९, ४) तब स्त्रियों के साथ रहते हुए उस राजा के मृदंग-ध्वनि द्वारा प्रतिध्वनित प्रासाद में नाच-रंग के उत्सव उत्तरोत्तर बढ़ते जाते थे[3]। यह वर्णन अंतिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का स्मरण करा देता है।

---

(१) मालविका०, १-२।

(२) प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनाम्।—मालविका०, १।

(३) कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः॥—रघु०, १९,५

ऊपर बताए हुए आनंद-व्यसनों में ही दोलाधिरोहण के खेल का उल्लेख किया जा सकता है। इसके खेल पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ ही विशेष खेलती थीं। उन्हें झूले से गिरने का भी डर नहीं लगता था (दोलापरिभ्रष्टाया:)[1]। झूले के लिये दोला शब्द का व्यवहार हुआ है और झूला झूलने के लिये 'दोलाधिरोहण' वाक्यांश का; जैसा निम्नलिखित वक्तव्य से विदित होता है—"देव के साथ दोलाधिरोहण का आनंद लेना चाहती हूँ।"—इरावती। श्रीमानों के प्रासादों से लगे उद्यानों में झूले लगे रहते थे जिनमें आनंदप्रिय स्त्री-पुरुष प्राय: झूला करते थे। अन्य स्थल पर दोलागृह[2] का उल्लेख मिलता है। यह शायद उद्यानों में अथवा गृह के ही किसी कमरे को इंगित करता है जिसका उपयोग झूला झूलने में किया जाता होगा।

भारतवर्ष में अतिथि-सत्कार बड़े प्रेम से किया जाता था और यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य था। वेत्रासन[3] पर बैठाकर अतिथि की अभ्यर्थना करते थे। यह आसन बेत का कोच अथवा कुर्सी था। फिर उसे अर्घादि[4] मांगलिक वस्तुएँ प्रदान करते थे। यह अर्घ अक्षत और दूर्वा आदि का सम्मिश्रण था और देवताओं अथवा बड़े आदमियों की पूजा में प्रयुक्त होता था। इसके अवयवों का अन्यत्र इस प्रकार वर्णन मिलता है—

अतिथि-सत्कार

"आप: क्षीरं कुशाग्रञ्च दधि सर्पि: सतण्डुलम्।
भव: सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गोऽर्घ: प्रकीर्तित:॥"

अतिथि के चरण भी धोए जाते थे क्योंकि शायद अतिथि

---

(१) मालविका०, ३, मालविका।
(२) वही, ३.।
(३) कुमार०, ६, ५३।
(४) अतिथिविशेषलाभेन...। फलमिश्रमर्घमुपहार। इदं पादोदकं भविष्यति।—अभि० शाकुं०, १, अनसूया।

पैदल चलकर आता था इसलिये उसके मिट्टी लगे पाँव पहले धो दिए जाते थे। फिर वह कोई अन्य कार्य करता था।

वर्षधर

कालिदास के ग्रंथों में मुगल राजाओं के हरमों में रहनेवाले खोजों की भाँति भारतीय राजाओं के अवरोधगृहों की रक्षा करनेवाले वर्षवरों[1] का वर्णन मिलता है।

आचार

संस्कृति और कला में सुरुचि रखनेवाले विलासी भारतीयों में सामाजिक दोषों की संख्या अधिक होनी चाहिए फिर भी कालिदास के वर्णन से पता चलता है कि देश पाप-रहित था (जनपदे न गदः), प्रजा धर्मपथ पर चलती थी, राजा स्वयं अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता था (स्थितेरभेत्ता), वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा करता और समाज के अपराधियों को दंड देता था। इस कारण यह बताना कुछ कठिन ज्ञात होता है कि समाज में दुष्टों के रहते हुए और साधारण जनता के विलास-प्रिय होते हुए भी किस प्रकार जनता धर्मपरायण थी। शकुंतला और दुष्यंत का समाज-सीमातिक्रमण स्वयं एक ऐसा अपराध है जो उस समय के आचार-शैथिल्य को प्रकट करता है और जिसके कारण दोनों को अनंत कष्ट भोगना पड़ा। कष्ट यह था कि जिस कारण उन्होंने व्यग्रता दिखलाकर शीघ्रता की और समाज-नीति के विरुद्ध आचरण करके आश्रम को अपवित्र किया उसी आनंद का वे चिरकाल तक उपभोग न कर सके। समाज में गणिकाओं के अस्तित्व के संबंध में कालिदास के कई उल्लेख हैं। ये नर्तकियाँ और गायिकाएँ होने के अतिरिक्त आज-कल की भाँति वारांगनाएँ भी अवश्य रही होंगी। नीचगिरि की गुफाएँ पण्यस्त्रियों[2] के नागरिकों से मिलने के कारण

---

(१) तेन हि वर्षवरपरिगृहीतमेनं तत्र भवतः सकाशं प्रापय।
—मालविका०, ४।

(२) मेघदूत, २७।

उनके बदन में लगे अंगराग आदि सुगंधित द्रव्यों से बराबर सुरभित होती रहती थीं। इस प्रकार समाज में पण्यस्त्रियों और उनसे मिलनेवाले नागरिकों की संख्या इतनी थी कि उन्हें कोई कवि अपने काव्य में वर्णित कर सकता था। उज्जयिनी के महाकाल के मंदिर में वे गाती और नाचती[1] थीं। श्रावण मास में शिव के मंदिर में नृत्य आदि करना आज भी कुछ धार्मिक सा हो गया है और बहुत संभव है कि आधुनिक देवदासी प्रथा भी इन्हीं वेश्याओं को प्राचीन काल में मंदिरों में नचानेवाली प्रथा से निकली हो। यह ध्यान देने की बात है कि ये वेश्याएँ मंदिरों में केवल कुछ घंटों के लिये नहीं वरन् सदा रहती और नाचती गाती थीं, जैसा कि कवि के वर्णन से ज्ञात होता है।

इसी प्रकार अभिसारिकाओं और असतियों की भी समाज में एक संख्या थी। कालिदास ने कई बार उनका उल्लेख किया है। अभिसारिकाएँ[2] रात के अँधेरे में अन्य पुरुषों से मिलती थीं और दूतियाँ[3] इनके इस प्रकार के गुह्य प्रेम को बढ़ाती थीं। उनका काम समाज के दूषणों का वर्धन करना था। आज भी उनकी संख्या कम नहीं है। समाज में चोरों (कुंभीरक) और दीवार भेदने-वालों (पाटच्चर:) की भी स्थिति[4] थी और उनके लिये कई प्रकार के संज्ञावाचक शब्द संस्कृत में बनकर प्रयुक्त होने लगे थे। कभी कभी मुक्त अभियुक्तों से पुरस्कार पाकर नागरिक की स्थिति के व्यक्ति भी अन्य साधारण पुलिस कर्मचारियों के साथ मद्यपान करते थे। इस प्रकार रिश्वत भी कुछ न कुछ ली जाती होगी और मद्यपान तो सारे

---

(१) मेघदूत, ३७।
(२) रघु०, १६, १२।
(३) वही, १९, १८।
(४) अभि० शाकुं०, ६।

समाज में पुरुष और स्त्रियों में रमकर उनको दुर्बल बना ही रहा था। इसी लिये तो हूणों को भारत विजय करने का साहस हो सका।

इतना होने पर भी देश में सदाचार था और लोग साधारणतया धर्मपरायण थे। समाज के पूर्वोक्त अपराधी सदा सर्वत्र होते हैं और उस समय भी थे। समाज में साधारणत: वे महिलाएँ थीं जो पति की अनुपस्थिति में आनंद और शृंगार को छोड़ देती थीं[1]। अपने पति के अतिरिक्त और किसी पुरुष की ओर आँख नहीं उठाती थीं। विधवाएँ प्राय: पति के शव के साथ ही चिता में जलकर सती हो जाती थीं। इस प्रकार एक अपराध की जगह सैकड़ों गुण थे। इन अपराधों को कोई समाज कभी दूर नहीं कर सकता। ये क्षम्य हैं। इनके लिये समाजनीति और राजधर्म में दंड भी बड़े कठोर थे।

प्राय: द्विज जीवन के तृतीय काल (वानप्रस्थ आश्रम) में नगर अथवा ग्राम छोड़कर द्विज वन में जाकर मुनिवृत्ति का आचरण करते थे। अभिज्ञान-शाकुंतल के दो श्लोकों[2] के आधार पर आश्रम का निम्नलिखित वर्णन किया जा सकता है—

ऋष्याश्रम

(१) तोते आश्रमवासियों के बड़े प्रिय थे और वे उनके भोजनार्थ वृक्षों के खोखले नीवार के दानों से भर देते थे जो प्राय: वहाँ से गिरकर आश्रमभूमि पर बिखर जाते थे।

(२) इंगुदी के फल का व्यवहार आश्रमवासी खूब करते थे, जैसा उनको तोड़नेवाले पत्थरों की तेल लगी चिकनाहट से विदित होता है। इसी कारण इंगुदी के पेड़ को तापस तरु भी कहते थे।

(३) आश्रमवासियों के अहिंसक व्यवहार से वन-मृग इस प्रकार विश्वस्त हो जाते थे कि अस्वाभाविक रथध्वनि सुनकर भी वे

---

(१) मेघदूत, उत्तर मेघ, यक्षपत्नी।
(२) अभि०-शाकुं०, १,१४–१५।

विचलित नहीं होते थे और प्रायः आश्रम में ही विचरते रहते थे। इसी कारण वे आश्रम-मृग भी कहलाते थे।

(४) तपस्वी आश्रमवासी वल्कल वसन धारण करते थे और उन्हें पानी में धोकर वृक्षों की डालों पर लटका देते थे। वल्कल ले जाने के कारण रास्ते में जल के टपकने से लीक बन जाती थी।

(५) आश्रम के वृक्षों और पौदों को सींचने के लिये तपस्वी पतली प्रणालिकाएँ बनाते थे जिनसे जल, वृक्षों और पौधों की जड़ों से होकर, बहता था।

(६) वृक्षों के पल्लव प्राकृतिक अवस्था में रक्ताभ होते हैं परंतु वही, आश्रम के यज्ञ से उत्पन्न घी के धुएँ के लगने से, अपना स्वाभाविक रंग खो देते थे।

(७) दर्भ की तेज फुनगियाँ कट जाने से वे मृगों के बच्चों के चरने योग्य हो जाते थे।

ऊपर लिखे चिह्नों से आश्रम पहचाना जा सकता था।

कालिदास के ग्रंथों में कई प्रकार के जन-विश्वास का वर्णन आया है। स्त्री की दाहिनी आँख का फड़कना आज-कल की ही भाँति अशुभ माना जाता था और बाईं आँख का फड़कना शुभ समझा जाता था। पुरुष की आँखों के फड़कने का फल ठीक इसके विपरीत था। इसी प्रकार पुरुष की दाहिनी भुजा का फड़कना भला समझा जाता था। शृगाल-ध्वनि को अशुभ मानते थे।

जन-विश्वास

जो मनुष्य अपने धन की बड़ी रखवाली करता था और सूम होता था उसके प्रति लोगों का विश्वास था कि वह मरकर सर्प होगा और अपने गाड़े धन की रक्षा करेगा। उसके मरने के बाद भी जो कोई उसके धन पर हाथ लगाएगा उसे वह काट खायगा। यह विश्वास आज तक नहीं मरा। यह विश्वास बड़ा प्राचीन है और

इसका आरंभ इस विश्वास के कारण हुआ होगा कि सर्प पाताललोक में पृथ्वी के नीचे रहते हैं और धन भी बहुधा पृथ्वी में गाड़कर ही रखा जाता है। रामपुरवा के स्तूप के रक्षक सर्प ही हैं जिनकी आकृतियाँ शिलापट्टों पर उत्कीर्ण रामपुरवा के स्तूप के साथ देख पड़ती हैं। इस स्तूप में गौतम बुद्ध का भस्मावशेष रखा हुआ था।

नागदंशन का इलाज एक प्रकार की क्रिया के अनुष्ठान से किया जाता था जिसे उदकुंभ विधान[1] कहते थे। भाष्यकार ने इस अनुष्ठान का भैरवतंत्रनिर्देशपूर्वक विशद वर्णन किया है जिसके अनुसार मंत्रपूत कलश में मंत्रपूत जल भरकर सर्प के काटे को झाड़ते थे। ध्रुवसिद्धि की प्रणाली नागमुद्रावाली नहीं प्रत्युत रासरत्नावलीवाली है, जैसा भाष्यकार ने बतलाया है। संभवतः लोगों का विश्वास था कि नागमुद्रावाली किसी वस्तु को आमंत्रित करके प्रयोग करने से सर्पविष उतर सकता है। मालविकाग्निमित्र में सर्पदंशन का बहाना करनेवाले विदूषक का मिथ्या सर्प-विष इसी प्रकार उतारा जाता है[2]।

बच्चों को शुभ जंतर पहनाने की चाल का भी कालिदास में हवाला[3] मिलता है। लोग इंगुदी के फल को भी शुभ समझते थे और बच्चों को उनकी माला बनाकर पहनाते थे। दैवचिंतकों अर्थात् भविष्यवक्ता ग्रहदशा के पंडितों का भी उल्लेख हुआ है। इस प्रकार कालिदास के समय की जनता भी, सब काल और देश की जनता की भाँति, कई प्रकार की भ्रांतियों में विश्वास करती थी।

यज्ञोपवीत ब्राह्मण का चिह्न था और धनुष क्षत्रिय का। परशुराम का यज्ञोपवीत तो जमदग्नि ऋषि के ब्राह्मणत्व का प्रतिनिधि-

---

(१) मालविका०, ४।

(२) वही।

(३) रक्षाभङ्गलम्।—अभि० शाकुं०, ७, शकुंतला।

स्वरूप था; पर उनके हाथ का धनुष उनके उस क्षात्रधर्म का परिचायक था जो उन्हें (क्षत्रिय राजा प्रसेनजित् की कन्या) माता रेणुका से प्राप्त हुआ था। कालिदास ने यज्ञोपवीत को केवल ब्राह्मणों के धारण योग्य लिखा है[1] जिससे पता चलता है कि उनके समय में यज्ञोपवीत ब्राह्मणों का ही चिह्न माना जाता था। बहुत प्राचीन समय में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों यज्ञोपवीत धारण करते थे। बहुत संभव है कि कालिदास ने इस प्राचीन प्रथा का विरोध न किया हो और उनके कहने का तात्पर्य आध्यात्मिक हो। कदाचित् उनका तात्पर्य यह था कि यज्ञोपवीत ब्रह्मचारी के ब्रह्माचरण अर्थात् वेदाध्ययन आदि का स्मारक और प्रतिज्ञा-सूत्र था। वेदाध्ययन आदि ब्राह्मणों का मुख्य कर्म ही नहीं प्रत्युत उस समय तक केवल उन्हीं का धर्म रह गया था इसलिये यज्ञोपवीत ब्राह्मणत्व का ही प्रमाण-स्वरूप था। इसी प्रकार क्षात्रवृत्ति—युद्धकर्म आदि—केवल क्षत्रिय का ही हो गया था इसलिये धनुष केवल क्षत्रिय वर्ण का ही परिचायक कहा जा सकता है।

उपवीत

एक स्थल[2] पर यह उल्लेख मिलता है कि 'यह मंडन ही हमारा अंतिम अर्थात् मृत्यु-मंडन होगा', जिससे विदित होता है कि चिता पर दग्ध करने के पूर्व शव को पुष्पाभरणों और चित्रण आदि से अलंकृत कर लेते थे (विससर्ज कृतान्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे।—रघु०, ८, ७१। क्रियतां कथमन्त्यमण्डनं परलोकान्तरितस्य ते मया।—कुमार०, ४, २२)।

शव-मंडन

लोग संध्या के समय बैठकर प्राचीन कथाएँ कहा करते थे और वृद्ध जन ही इसमें अधिक दक्ष माने जाते थे। उज्जयिनी

(१) रघु०, ११, ६४।
(२) अथवेदानीमेतदेव मृत्युमण्डनं मे भविष्यति।
—मालविका०, ३, मालविका।

के ग्रामवृद्धों को कालिदास ने उदयन[1] आदि की कथा कहने में दक्ष कहा है। यह वत्स देश का राजा उदयन, ई० पू० छठी शताब्दी में, गौतम बुद्ध का समकालीनथा।

कथा

इस प्रकार संपन्न देश में सर्वत्र शांति अथवा अशांति के दिनों में भी सामाजिक व्यवस्था भंग नहीं होने पाती थी। लोग प्रायः अपने अपने उद्यमों और वर्णधर्म में लगे रहते थे और राजा उनको धर्म-मार्ग से विलग नहीं होने देता था।

---

(१) प्राप्यावन्तीमुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्। —मेघदूत, ३२।

(१७) भारतीय कला में गंगा और यमुना

[लेखक—श्री वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०, काशी]

पतितपावनी माता गंगा के नाम से कौन अपरिचित होगा। वैज्ञानिक संसार न केवल इसके जल का गुणगान किया करता है वरन् गंगा को हिंदू धार्मिक हृदय में बहुत ही ऊँचा स्थान दिया गया है। भारत के प्राचीनतम साहित्य से लेकर आधुनिक काल तक गंगा-यमुना की स्तुतियाँ अनेक स्थलों पर सुलभ हैं तथा स्तुति-विषयक ग्रंथ भी उपलब्ध हैं। ऋग्वेदिक काल में गंगा तथा यमुना को आधुनिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न था, परंतु एक स्थल पर अन्य नदियों के साथ साथ इनकी भी कुछ स्तुति की गई है—

> इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
> असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥
>
> —ऋक्०, १०।७५।५

इस प्रकार ऋषियों ने गंगा का नामोल्लेख किया है। संस्कृत-साहित्य के रामायण[1] तथा महाभारत[2] महाकाव्यों में भी गंगा माता की स्तुति का पर्याप्त मात्रा में वर्णन मिलता है। पौराणिक समय में धार्मिक भाव की वृद्धि के साथ गंगा तथा यमुना का बहुत ही उच्च कोटि का वर्णन मिलता है। गंगा समस्त पापों को नाश करनेवाली, पतितों को तारनेवाली तथा जल-स्पर्श मात्र से स्वर्ग

---

(१) बालकांड, सर्ग ४२; अयोध्या०, सर्ग ६५।

(२) वनपर्व, अध्याय १०६।

को देनेवाली बतलाई गई है[१]। इस प्रकार पुराणों में गंगा-यमुना[२] की महिमा का सुंदर वर्णन मिलता है। हिंदू शास्त्रों के अतिरिक्त बौद्ध जातकों में भी गंगा के पुण्यस्थान-संबंधी धार्मिक यात्राओं का महत्त्व बतलाया गया है[३]। इन उपर्युक्त वर्णनों से प्रकट होता है कि गंगा की प्रार्थना तथा पूजा प्रत्येक संप्रदाय के अनुयायियों द्वारा, बिना किसी भेद-भाव के, होती थी। गंगा तथा यमुना के धार्मिक भाव के विकास की ओर न जाकर मैं प्रस्तुत विषय पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। इस लेख में यह दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा कि भारतीय कला में गंगा तथा यमुना की मूर्तियाँ कब और किस प्रकार बनने लगीं। क्या इसकी उत्पत्ति पर किन्हीं अंशों में अन्य मूर्तियों का प्रभाव है ? प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक गंगा तथा यमुना की मूर्तियों के विकास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

डा० कुमारस्वामी का मत है कि पूजा की धार्मिक भावना के साथ साथ मूर्तिकला का भी प्रारंभ हुआ[४]। या यों कहा जाय कि दोनों की उत्पत्ति एक ही मूल से हुई; दोनों को पृथक् करना सरल कार्य नहीं है। शिल्पशास्त्र में वर्णन मिलता है कि मूर्तिकार शिल्पकला-कोविद के अतिरिक्त पुजारी हो तथा पूजा-संबंधी वैदिक मंत्रों से पूर्ण परिचित हो। इन समस्त गुणों से युक्त शिल्पकार

---

(१) गंगेति स्मरणादेव क्षयं याति च पातकम्।
गंगातोयेषु तीरेषु तेषां स्वर्गोऽक्षयो भवेत्॥
—पद्मपुराण, अध्याय ६०।

गंगाथ सरितां श्रेष्ठा सर्वकामप्रदायिनी।
—ब्रह्म पुराण, अध्याय ७१।

(२) पद्म पु०, अ० ४२; मत्स्य पु०, अ० १०६।

(३) जातक, २। १७६। (कैंब्रिज अनु०)

(४) डैंस आफ शिव, पृ० २५।

को शांत तथा शुद्ध आचरण का होना अनिवार्य बतलाया गया है[1]। इन्हीं कारणों से पूजा तथा मूर्ति-विकास को अपृथक् मानना युक्तिसंगत है।

भारतीय शिल्पकला में हिंदू-मूर्तियों का निर्माण गुप्त काल से पाया जाता है[2]; क्योंकि इसी स्वर्णयुग में ब्राह्मण धर्म का पुन: प्रचार हुआ जो परम भागवत गुप्त नरेशों के साहाय्य का परिणाम था। विष्णुधर्मोत्तर में उल्लेख मिलता है कि गंगा तथा यमुना की मूर्ति वरुणदेव के साथ तैयार की जाती थी[3], जो वैदिक काल से एक महान् देव माने जाते थे। वेदों में वरुण की स्तुति के मंत्र भी प्रचुरता से मिलते हैं[4] जिससे उनकी महत्ता का ज्ञान होता है। परंतु विष्णु-धर्मोत्तर के वर्णन के अतिरिक्त तक्षण-कला में एक भी तत्सम उदाहरण नहीं मिलते। वरुण प्राचीन काल से जलदेवता माने जाते हैं; अतएव गंगा तथा यमुना (जलदेवी) का उनसे संबद्ध होना असंभव नहीं है। गुप्त काल में गंगा और यमुना की मूर्तियों का अभाव नहीं है परंतु वे उनकी स्वतंत्र मूर्तियाँ नहीं हैं। इस स्थान पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि गंगा तथा यमुना की मूर्ति का समावेश प्रस्तर-कला में कैसे हुआ। इसका विचार करने से पूर्व गंगा और यमुना की मूर्तियों से समता रखनेवाली विभिन्न प्रस्तर-मूर्तियों पर ध्यान देना आवश्यक ज्ञात होता है।

ई० पू० द्वितीय तथा प्रथम शताब्दियों में भारतीय कला का विकास भरहुत, साँची तथा मथुरा में दृष्टि-गोचर होता है। इस कला का संबंध बौद्धों से था। इसमें बुद्ध तथा उनकी जीवन-संबंधी

---

(१) इ० ए०, भा० ५, पृ० ६८।
(२) भारतीय शिल्प-शास्त्र, पृ० ५४।
(३) विष्णुधर्मोत्तर, भा० ३, अ० ५२।
(४) ऋग्वेद, १। २५।

कथाओं का समावेश किया गया है। वहाँ स्तूपों की वेष्टिनी पर अनेक पुरुषों की मूर्तियाँ मिलती हैं, जो द्वारपाल के स्थान पर या बोधि वृक्ष तथा चक्र के समीप चँवर लिए दिखलाए गए हैं। कलाविदों ने इनको यक्ष का नाम दिया है। डा० कुमार स्वामी यक्षों को उद्भिज देव या उसके रक्षक मानते हैं। उनका कथन है कि यक्ष की राक्षसों से समता नहीं की जा सकती[१]। हिंदू तथा बौद्ध ग्रंथों में यक्ष का नाम मिलता है। यक्ष की तुलना ग्रामदेवता से की गई है[२]। निकाय-ग्रंथों तथा जैन सूत्रों में बुद्ध भगवान् को भी यक्ष कहा गया है[३]। संसार की उत्पत्ति जल से हुई, इस विचार-धारा के कारण भरहुत तथा साँची की कला में आभूषण के निमित्त कमल, पूर्ण घट, मछली आदि (जो पानी से पैदा होते हैं) प्रयुक्त हुए हैं। उद्भिज देव होने के कारण यक्ष का भी जल से संबंध प्रकट होता है। अतएव भरहुत, साँची तथा मथुरा की कला में (गुप्तकला से पूर्व) यक्षी की मूर्ति मछली या मकर पर खड़ी वेष्टिनी के स्तंभों पर बनाई गई थी। भरहुत[४], बेसनगर[५] (साँची) तथा मथुरा[६] में ऐसी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। डा० कुमारस्वामी का मत है कि इन्हीं यक्षी मूर्तियों से गुप्तकालीन

---

(१) कुमारस्वामी—यक्ष, भा० २, पृ० ३।

(२) जैमिनी ब्राह्मण, भा० ३, २०३।

(३) अंगुत्तर निकाय, भा० २, पृ० ३७; उत्तराध्यायन सूत्र, अ० ३, १४-१८।

(४) यक्ष, भा० १, प्ले० ६, नं० १,२।

(५) वही, " , " १४, " २; यक्ष, भा० २, पृ० ६६।

(६) कुमारस्वामी—यक्ष, भा० २, प्लेट १०, नं० २; स्मिथ—जैन स्तूप आफ मथुरा, प्ले० ३६। वोजेल—कैटलाग आफ आर्केला०म्यूजियम, मथुरा, पृ० १५१, नं० J ४२।

गंगा की मूर्ति-कला का जन्म हुआ[1]। परंतु यह सिद्धांत संदेह-रहित नहीं ज्ञात होता।

विष्णुधर्मोत्तर के वर्णन से स्पष्ट प्रकट होता है कि वरुणदेव के साथ गंगा तथा यमुना की मूर्ति निर्मित होती थी[2]। यद्यपि ऐसी हिंदू मूर्तियाँ उपलब्ध नहीं होतीं, परंतु पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार संभवतः वरुण के साथ गंगा-यमुना की मूर्ति भी बनती होगी। गुप्तकालीन देवगढ़ के दशावतार मंदिर के द्वार के ऊपरी भाग में गंगा की मूर्ति मकर पर तथा यमुना की कूर्म पर, क्रमशः बाईं तथा दाहिनी ओर, स्थित हैं[3]। इसके विपरीत यक्षी की मूर्ति द्वारपाल के स्थान पर खुदी मिलती है। कालांतर में वरुणदेव की वह महत्ता न रही तथा गंगा और यमुना की मूर्तियाँ स्वतंत्र रूप से गुप्त-मंदिरों के द्वार पर (प्रायः द्वारपाल के स्थान पर) मिलती हैं। गंगा तथा यमुना के द्वार पर स्थित होने से यह अभिप्राय नहीं निकाला जा सकता कि भरहुत तथा साँची की यक्षियों के सदृश वे द्वाररक्षक या द्वारपाल का कार्य संपादन करती थीं; परंतु गुप्त-शिल्पकारों का मुख्य ध्येय यह प्रतीत होता है कि द्वार पर दुःख-विनाशिनी माता गंगा के स्थित होने से मंदिर में किसी प्रकार की बुरी आत्मा का प्रवेश नहीं हो सकता। अतएव गंगा तथा यमुना को (यक्षी की तरह) द्वाररक्षक न मानकर द्वारदेवता कहना उचित होगा। विष्णु के द्वार-देवता जय-विजय के सदृश इनका संबंध शिव से था। भूमरा के शिव-मंदिर में द्वार के ऊपरी भाग में शिव की मूर्ति के साथ साथ द्वार-देवता गंगा तथा यमुना की भी मूर्तियाँ

---

(१) यक्ष, भा० १, पृ० ३३,३६।

(२) विष्णुधर्मोत्तर, अ० ५२।

(३) कुमारस्वामी—यक्ष, भा० २, प्लेट २१, नं० १।

मिलती हैं[१]। गुप्तों के अन्य मंदिरों—तिगवा[२] तथा देवगढ़[३]—में गंगा और यमुना की मकर तथा कूर्मवाहिनी मूर्तियाँ मिलती हैं। उदयगिरि गुहा की मूर्तियाँ समुद्र में प्रवेश करती हुई दिखलाई पड़ती हैं[४]। गंगा के वाहन मकर से यही तात्पर्य है कि इसका संबंध समुद्र से है तथा यमुना के कूर्म से प्रकट होता है कि इस नदी का संबंध किसी अन्य नदी से है, समुद्र से नहीं। मथुरा में भी गंगा तथा यमुना की ऐसी ही मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं[५]। मध्यभारत के ग्वालियर में स्थित भिलसा नामक स्थान से भी मकरवाहिनी गंगा की मूर्ति मिली है जो बोस्टन के संग्रहालय में सुरक्षित है[६]। यों तो गुप्तकालीन ऐतिहासिक स्थानों (पहाड़पुर आदि) से गंगा तथा यमुना दोनों की मूर्तियाँ मिली हैं, परंतु गंगा की विशेषता बढ़ती गई और समयांतर में गंगा की पूजा की ही महत्ता समझी जाने लगी। उत्तरी भारत में मकरवाहिनी देवी का कतिपय स्थलों पर गंगा नाम दिया गया है जो पहले किसी भी लेख से प्राप्त नहीं होता। काँगड़ा के वैद्यनाथ-मंदिर के लेख[७] तथा भेड़ाघाट (जबलपुर, मध्यप्रांत) के लेख[८] में मकरवाहिनी देवी 'गंगा' के नाम से उल्लिखित मिलती है। इसके

---

(१) बैनर्जी–मेमायर आफ आर्केला० स०, नं० १६।

(२) कनिंघम–आ० स० रि०, भा० ६, पृ० ४१।

(३) वही, भा० १०, प्लेट ३६, और भा० १०, पृ० ६०।

(४) कुमारस्वामी–यक्ष, भा० २, प्लेट २०, नं० १।

(५) वोजेल—कैटलाग आफ आर्केला० म्यूजियम, मथुरा, नं० R. 56, 57.

(६) दि एज आफ इंपीरियल गुप्त प्लेट २७।

(७) वोजेल—कैटलाग, पृ० ३८७।

(८) कनिंघम—आ० स० रि०, भा० ६, पृ० ६६-६।

अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर नामक ग्रंथ में भी इसका नाम गंगा ही लिखा मिलता है[1]।

इन समस्त विवरणों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि गंगा की मूर्ति तीन प्रकार की मिलती है—(१) वरुण के साथ गंगा, (२) द्वार-देवता के रूप में गंगा तथा (३) स्वतंत्र गंगा की मूर्ति।

तीसरे प्रकार की मूर्ति गुप्त-काल के पश्चात् मध्ययुग में तैयार होने लगी। इस युग में गंगा को द्वार-देवता से भी अधिक महत्ता देकर दिव्य मूर्ति का रूपमय भाव पाया जाता है। तांत्रिकों के द्वारा गंगा की विशेष पूजा होती थी। मंत्रसार में गंगा का संबंध शिव तथा विष्णु से बतलाया गया है (ओम् नमः शिवायै नारायणै दशरायै गंगायै स्वाहा)। माता गंगा को, ध्यान के साथ[2] आवाहन करके, सुखदा तथा मोक्षदा का नाम दिया गया है—

सद्यः पातक संहन्ति सद्यो दुःखविनाशिनी।
सुखदा मोक्षदा गंगा गंगैव परमा गतिः॥

प्राचीन भारत के मध्यकाल में गंगा की अनेक मूर्तियाँ, स्वतंत्र या शिव के साथ, मिलती हैं। ये ईसा की आठवीं शताब्दी में इलोरा[3] तथा राजशाही (उत्तरी बंगाल) में मिली हैं। राजशाही की मूर्ति है तो खंडित परंतु आभूषणयुक्त और सुंदर दीख पड़ती है। यह गंगा-मूर्ति वारेंद्र सोसाइटी के संग्रहालय में

---

(१) भा० ३, अ० ५२।

(२) ध्यानमंत्र इस प्रकार है—

चतुर्भुजा त्रिनेत्रं च सर्वाभरणभूषिता।
रत्नकुम्भसिताम्भोजवरदाभयसत्कराम्॥

(३) वरगेस—ए० एस० आई० न० आई० एस०, भा० ५, चित्र नं० १६; कुमारस्वामी—यक्ष, भा० २, प्लेट २१, नं० २।

सुरक्षित है[१]। इसी काल की गंगा तथा यमुना की प्रस्तर-मूर्तियाँ वंगीय साहित्य-परिषद् के म्यूजियम में सुरक्षित हैं। गंगा की मूर्ति (नं० k (b) 141) मुर्शिदाबाद तथा यमुना की (नं० k (c) 1) बिहार से प्राप्त हुई है। गंगा का दूसरा नाम भागीरथी भी है; क्योंकि पैराणिक वर्णन के अनुसार भगीरथ गंगा को मृत्युलोक में ले आए थे। इस वर्णन के आधार पर भी दक्षिण भारत में गंगा की मूर्ति का निर्माण होता था। एलेफेंटा में गंगाधर शिव की एक मूर्ति मिलती है जिसमें गंगा शिव की जटा में प्रवेश करती हुई दिखाई गई है[२]। इस प्रकार कतिपय ग्रंथों में गंगाधर शिव की मूर्ति का निम्न-लिखित प्रकार से वर्णन मिलता है—

गङ्गाधरमहं वक्ष्ये सर्वलोकसुखावहम्।
सुस्थितं दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्चितम्॥
विश्लिष्यं स्याज्जटाबंधं वामे त्वीषन्नताननम्।
दक्षिणे पूर्वहस्ते तु वरदं दक्षिणेन तु॥
देवीमुपाश्रितेनैव देवीमालिङ्ग्य कारयेत्।
दक्षिणापरहस्तेनोद्धृत्योष्णीषसीमकम्॥
स्पृशेज्जटागतां गङ्गां वामेन मृगमुद्धरेत्।
देवस्य वामपार्श्वे तु देवी विरहिताननना॥
सुस्थितं वामपादं तु कुञ्चितं दक्षिणं भवेत्।
प्रसार्य दक्षिणं हस्तं वामहस्तं तु पुष्पधृक्॥
सर्वाभरणसंयुक्तं सर्वालङ्कारसंयुक्तम्।
भगीरथं दक्षिणे तु पार्श्वे मुनिवरान्वितम्॥

—शिल्परत्न, पटल १२।

---

(१) मूर्ति नं० $\frac{H(c)}{351}$ (वारेंद्र सोसाइटी संग्रहालय)।

(२) गोपीनाथ राव—एलेमेंटस आफ हिंदू आइकानोग्राफी, जि० २, भा० १, प्लेट ४०।

चतुर्भुजं त्रिनेत्रं च कपर्दमुकुटान्वितम् ।
अभयं दक्षिणं हस्तं कटकं वामहस्तकम् ॥
कपर्दमुकुटं तेन गृहीतं जाह्नवीयुतम् ।
वामदक्षिणहस्तौ तु कृष्णपरशुसंयुतम् ॥
अभयं पूर्ववत्प्रोक्तं कपर्दोपेतहस्तकम् ।
तस्य वामे भवानीं तु कारयेल्लक्षणान्विताम् ॥
जान्वन्तं वापि नाभ्यन्तं भागीरथ्यास्तु मानकम् ।
प्रलम्बकजटोपेतमुष्णीषं जलहस्तकम् ॥
द्विभुजं च त्रिनेत्रं च वल्कलाम्बरसंयुतम् ।
एवं गङ्गाधरं प्रोक्तं चण्डेशानुग्रहं शृणु ॥

—पूर्वकारणागम, पटल ११।

दक्षिण भारत में जटा में गंगा को धारण किए नटराज शिव की मूर्तियों का वर्णन मिलता है[1]। राजपूत चित्रकला में भी चतुर्भुजी मकरवाहिनी गंगा का चित्र मिलता है। उसी भाव को लेकर आधुनिक काल में रविवर्मा ने शिव की जटा में स्थित गंगा के चित्रों को धार्मिक जनों के सम्मुख उपस्थित किया है।

इन उपर्युक्त विस्तृत विवरणों के आधार से यही प्रकट होता है कि गंगा तथा यमुना की तक्षण-कला में उत्पत्ति गुप्त-काल में ही हुई। इस समय से पूर्व यक्षियों की जितनी मकरवाहिनी मूर्तियाँ मिली हैं उनमें स्पष्टीकरण नहीं हुआ था। गंगा का वाहन मकर होने के कारण उन यक्षियों से गंगा की समानता बतलाना युक्तिसंगत नहीं है। यक्ष का संबंध जल से था तथा मकर भी जलजंतु था, इसलिये मकरवाहिनी यक्षी के द्वारा उनका जल से संबंध स्पष्ट प्रकट होता है। इस प्रकार की यक्षी-मूर्ति से गंगा की उत्पत्ति मानना

(१) गोपीनाथ राव—एलेमेंट्स आफ हिंदू आइकानोग्राफी, जि० २, भा० १, पृ० २२६।

उचित नहीं प्रतीत होता। विष्णुधर्मोत्तर के वर्णन से ज्ञात होता है कि वरुण के साथ गंगा तथा यमुना की मूर्तियाँ तैयार की जाती थीं; परंतु समयांतर में वरुण एक दिक्पाल रूप में माने जाने लगे अतएव गुप्तकालीन मंदिरों में उनके साथ साथ इनका भी द्वार-देवता (द्वारपाल नहीं) के रूप में स्थान पाया जाता है। पीछे गंगा को सुखदा, मोक्षदा मानकर समस्त लोग उनकी पृथक् पूजा करने लगे जिससे मध्यकाल में गंगा की स्वतंत्र मूर्तियाँ निर्मित होने लगीं। पौराणिक वार्ता तथा कुछ शिल्प-ग्रंथों के आधार पर गंगा को शिव की जटा में स्थान दिया जाने लगा, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १५—संवत् १९९१

संपादक

श्यामसुंदरदास

—:※:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

लेख-सूची

विषय — पृ० सं०

भारतेंदु-ग्रंथावली

हिंदी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि, नाटककार तथा आधुनिक हिंदी के जन्मदाता, भारतभूषण, भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी की समस्त कृतियों के एक सुंदर संग्रह का अभाव हिंदी-प्रेमियों को बहुत दिनों से खटक रहा था। सभा अब इस अभाव को दूर करने का प्रयत्न कर रही है।

विगत भारतेंदु-अर्द्धशताब्दि के अवसर पर सभा ने इस ग्रंथावली का द्वितीय खंड प्रकाशित कर दिया है जिसमें भारतेंदुजी के रचे हुए समस्त काव्य-ग्रंथों तथा स्फुट कविताओं आदि का संग्रह है। भारतेंदुजी की अप्रकाशित तथा दुर्लभ कविताओं आदि को एकत्र करने में सराहनीय परिश्रम किया गया है। संग्रह अपूर्व है। प्रत्येक हिंदी-साहित्य के प्रेमियों के लिये बड़े ही महत्त्व का है। छपाई-सफाई बहुत सुंदर। डिमाई १६ पेजी आकार के एक सहस्र पृष्ठ के इस बृहत् ग्रंथ का मूल्य ३) मात्र।

मुँहणोत नैणसी की ख्यात

दूसरा भाग

जिन्होंने इस ख्यात का प्रथम भाग दे... जानते हैं कि यह ग्रंथ इतिहास-प्रेमियों... तथा उपयोगी है। इस भाग में ... भौगोलिक अनुक्रमणिका भी ...

ढोला-मारूरा दूहा

राजस्थानी का एक सुप्रसिद्ध प्राचीन लोक-गीत

यह काव्य कोई ५०० वर्ष पहले राजस्थानी भाषा में लिखा गया था। राजपूताने में, घर घर में, इसका आदर है। किंतु ऐसा अच्छा ग्रंथ अब तक मुद्रित न होने के कारण अन्य प्रांतवाले हिंदी-भाषियों के लिये तो सुलभ था ही नहीं; राजपूतानेवालों को भी वास्तविक रूप में अप्राप्य ही था। इस कारण अन्य प्रांतों में इसका प्रचार नहीं हो पाया। इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ दुर्लभ स्थानों से प्राप्त करके तीन तीन विद्वानों ने परिश्रम-पूर्वक इसको संपादित करके तथा पांडित्यपूर्ण बृहत् भूमिका, हिंदी अनुवाद और पाठांतर सहित मूल दूहे, अन्य प्रतियों के पाठ, शब्दार्थ, शब्द-कोष और मूल दूहों की प्रतीकानुक्रमणिका देकर प्रस्तुत किया है। इस प्रेमगाथा-काव्य में नरवर के राजकुमार ढोला और उसकी प्रियतमा पूगल की राजकुमारी मारुवणी तथा मालवे की राजकन्या मालवणी के प्रेम की अनोखी कहानी बड़े सुंदर रूप में कही गई है। इसकी शब्द-योजना बहुत ही उत्कृष्ट है, कविता में रसों का अच्छा परिपाक हुआ है और वर्णन-शैली आलंकारिक है। इसके कथोपकथन इतने सजीव और मर्मस्पर्शी हैं कि पढ़नेवाला आत्म-विस्मृत हुए बिना नहीं रहता। पृष्ठ-संख्या ६०० से ऊपर; प्राचीन राजपूत-कलम के तिरंगे तीन चित्र; सुंदर जिल्द; मूल्य केवल ४) रुपए।

मिलने का पता—

मंत्री, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी